हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

मूल लेखक

आचार्य श्यामसुंदरदास

संकलनकार

नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३४

शोधित संस्करण]

[मूल्य ॥=)

निवेदन

जब से आचार्य श्यामसुंदरदास का "हिंदी भाषा और ाहित्य" ग्रंथ प्रकाशित हुआ, तभी से उसके एक संक्षिप्त ंस्करण की आवश्यकता समझी जाने लगी थी, पर तब से अब तक उस संबंध का कोई क्रियात्मक उद्योग नहीं हो सका था। हाल में जब हिंदी 'विश्वकोष' के संपादक श्रीयुत नगेंद्र-ाथ बसु महोदय ने अपने कोष का 'हिंदी-साहित्य' शब्द एक ्तंत्र निबंध के रूप में मुझे लिखने की आज्ञा दी, तब मैं अन्य ार्यों में व्यस्त रहने के कारण उनका आदेशपालन न कर का। परंतु मेरे प्रस्ताव करने पर बसु महोदय ने उक्त 'हिंदी भाषा और साहित्य' ग्रंथ के साहित्य-खंड को, संक्षिप्त आकार में, अपने कोष में स्थान देना स्वीकार किया। मेरी धारणा है क आचार्य श्यामसुंदरदास का उक्त ग्रंथ ही 'विश्वकोष' में संकलन योग्य था। यह पुस्तिका उसी निबंध का किंचित् प्रविर्धित और संशोधित रूप है।

अब तक डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल तक के हिंदी-साहित्य के जो विवेचनात्मक इतिहास-ग्रंथ लिखे गए हैं उनमें हिंदी का संकलित-चित्र उतना नहीं देख पड़ता ितना भिन्न भिन्न काल के भिन्न भिन्न कवियों पर उनकी राय-ानी देख पड़ती है। आचार्य श्यामसुंदरदास का उक्त ग्रंथ इस

दिशा में सर्वप्रथम प्रवेश करने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा हिंदी के लिये मौलिक ही नहीं, इतनी महत्त्वपूर्ण भी है कि इसका परिचय साहित्य के प्रज्ञाप्राप्त अन्वेषकों को ही नहीं साधारण विद्यार्थियों को भी मिलना चाहिए। यही इस संक्षिप्त संस्करण की सार्थकता है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि इस संकलन-कार्य में मैं अनभ्यस्त हूँ और इस ओर मेरी रुचि भी नहीं, तथापि कई कारणों से उक्त मूल ग्रंथ से मेरी अतिशय प्रीति रही है और मैं ही उसे संक्षिप्त करने का अधिकारी भी था। इसलिये त्रुटियों की चिंता न कर, मैं पुस्तक के साथ इस रूप में अपना नाम संयुक्त करने में प्रसन्न हो रहा हूँ।

प्रयाग
५-१२-३१

नंददुलारे वाजपेयी

नवीन संस्करण

इस नवीन संस्करण में आधुनिक पद्य-प्रवाह का अध्याय अधिक परिवर्तन के साथ छप रहा है। अन्य अध्यायों में कहीं कुछ शब्द या वाक्य जोड़ दिए गए हैं और कहीं घटा दिए गए हैं। इसका उत्तरदायित्व तब तक संकलनकर्त्ता के ही ऊपर है जब तक मूल लेखक अपने ग्रंथ में अपनाकर इसका अनुमोदन नहीं करते।

काशी
२२-११-३३ } नंददुलारे वाजपेयी

विभाग-सूची

हिंदी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

(१) आमुख

उत्तर भारत के विस्तृत और विशाल भूखंड में विगत हजार वर्षों से प्रचलित हिंदी भाषा का साहित्य भारत की जातीय और राष्ट्रीय आशाओं, आकांक्षाओं और स्थितियों को जानने का अद्वितीय साधन है। अपनी विशालता, विस्तार और व्यापकता के कारण ही नहीं, भारत की सभ्यता और संस्कृति-परंपरा की रक्षा करने के कारण भी हिंदी-साहित्य की महिमा और महत्त्व अपार है। मानव-हृदय के 'सत्यं शिवं सुंदरं' की अभिव्यंजना के लिये और भारत के जातीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिये हिंदी-साहित्य के प्रयास स्तुत्य और अर्हणीय हैं। भारत की प्राचीन आर्य-सभ्यता और आर्य-संस्कृति, हिंदी-साहित्य के नवीन वस्त्राभूषण धारण कर, नवीन रंग रूप में विकसित हुई और फूली फली है। अपने परिवर्त्तन-शील और प्रगतिशील जीवन का प्रतिबिंब देखकर आज भी संपूर्ण उत्तरापथ का विशाल जनसमूह हिंदी-साहित्य का श्रेय स्वीकार करता है।

भारतीय साहित्य की मूल रागिणी समूह-मुखी है, इस तथ्य को सदैव याद रखना चाहिए। हिंदी-साहित्य भी इसी परंपरा का पालन करता है। देश-काल की स्थिति के अनुरूप जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब हिंदी में आदि-काल से ही मिलता है। समूह की ध्वनि जब जब बदली है, साहित्य में भी परिवर्त्तन हुआ है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य को प्रारंभ से अब तक चार कालों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) वीरगाथा-काल   सं० १०५० से १४०० तक।
(२) भक्ति-काल   सं० १४०० से १७०० तक।
(३) रीति-काल   सं० १७०० से १८५० तक।
(४) गद्य-काल   सं० १८५० से अब तक।

निश्चय ही ये तिथियाँ ज्योतिष अथवा गणित की तिथियों की तरह नितांत अकाट्य नहीं हैं, फिर भी हिंदी-साहित्य के सामान्य विवेचन में ये सामान्यतः स्वीकार की जा सकती हैं।

(२) वीरगाथा-काल

वह युग घोर राजनीतिक हलचल तथा अशांति का था। भारत के सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण तो बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भू-भाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पदाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजय-वैजयंती लाहौर, देहली, मुलतान तथा अजमेर आदि में फहराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने इसी काल में भारत-विजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन जमाने के उद्देश्य से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति लूट ले जाने की इच्छा से हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के लक्ष्य में परिवर्त्तन हुआ, वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख-समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धन-धान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार करने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों

को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके; पर धीरे धीरे राजपूत-शक्ति अंतर्कलह से क्षीण होती गई और अंत में उसे मुस्लिम शक्ति के प्रबल वेग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

राजनीतिक हलचल के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी, इस पर कम लोग ध्यान देते हैं। जब से गुप्त-साम्राज्य का अंत हुआ था और देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से हर्षवर्द्धन के अस्थायी राजत्व-काल के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ ही नहीं। उलटे गृह-कलह की निरंतर वृद्धि होती गई और विक्रम की नवीं, दशवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में यह भीषण दोष अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया। स्वयंवरों में अपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण बात थी, कभी कभी तो अपना बल दिखलाने या मन बहलाने के लिये ही अकारण लड़ाई छेड़ दी जाती थी। विप्लवों और युद्धों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत तथा विविध कलाओं का आविर्भावक था, वह अविद्यांधकार में पड़कर अनेक अंधविश्वासों का केंद्र बन गया। जो लोग आसमुद्रक्षितीशों के साम्राज्य में सुख-समृद्धिपूर्वक समय बिताते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर

मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संयोगवश पीछे घूम पड़ने पर सारी सेना का भाग खड़ा होना हिंदुओं के तत्कालीन चरम पतन का सूचक है। यद्यपि अन्य स्थानों में प्रबल वीरता प्रदर्शित करने के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना भला-बुरा तक पहचानने में असमर्थ हो जाता है और जो अपने विलासी तथा अदूरदर्शी शासकों के ही हाथों का पुतला बन जाता है उसका कल्याण कब तक हो सकता है ? फल यह हुआ कि साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई और अपरिणाम-दर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के बीज बोए, जिनका कटु फल देश तथा जाति को अब तक भोगना पड़ रहा है।

देश के जिस भू-भाग में जिस समय ऐसी अशांति तथा अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भू-भाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी-साहित्य अपना शैशव-काल व्यतीत कर रहा था। हिंदी की इस शैशवा-वस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशांति के उस युग में वीरगाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान

रूप में व्याप्त रहती है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज देश भर में सुनाई पड़ती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होतीं ही नहीं और जो थोड़ी-बहुत होती भी हैं वे, सुरक्षित न रह सकने के कारण, शीघ्र ही काल-कवलित हो जाती हैं। हिंदी के आदि-युग में जो केवल वीर-रस की कविताएँ मिलती हैं, उसका यही कारण है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि तत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई, अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही दम लिया, तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। उनका यह कार्य बराबर चलता रहा। सारांश यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध-समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी चिंतनीय दशा हो जाती है और जिस समय कविता में प्राणमय आदर्शों का समावेश नहीं होता, उस समय देश और जाति की ऐसी अवस्था अवश्यंभावी ही है। हिंदी के आदि-युग में

अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिंता नहीं थी जितनी अपने आश्रय-दाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ-साधन करने की थी। यही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों की मिथ्या प्रशस्तियाँ रचनेवाले कवि तो हुए, पर सच्चे वीरों की पवित्र गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गईं और यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका पता नहीं है।

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहास-सम्मत घटनाओं का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च कोटि के कवित्व का ही उन्मेष पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपने मूल रूप में मिलती ही नहीं और जो कुछ मिलती भी हैं, उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विभिन्नता पाई जाती है। जो कवि अपने अधिपतियों को प्रसन्न करने के लिये ही रचनाएँ करेगा उसे बहुत कुछ इतिवृत्त की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कृतियों में हृदय के सच्चे भावों का अभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्फुरण न हो सकेगा। जहाँ केवल प्रशंसा करना ही उद्देश्य रह जाता है वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और कविराजों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एक घिरे हुए शब्द-चक्र के चतुर्दिक् ही चक्कर काटती है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्य-धारा परंपरा-

गत हो गई जिससे भाट चारणों की जीविका तो चलती रही, पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करके और उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली उससे कविता लक्ष्य-भ्रष्ट तो हो ही गई, वह पुनरुक्तियों के पक्षाघात से पीड़ित, मूच्छित और जड़ भी होती गई। ग्रंथों में ऐतिहासिक विवरणों का लोप हो गया। क्षेपक इतने अधिक बढ़ चले कि वे मूल से भी अधिक हो गए और मूल का पता लगना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। यदि इस कुप्रथा का अंत हिंदी के भक्त कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का संपर्क राजाश्रय से हटकर जन-समूह की हार्दिक वृत्ति से न हो जाता, तो अब तक हिंदी कविता की कितनी अधोगति हो गई होती, इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है।

इस युग के कवियों की रचनाओं में सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी यत्र तत्र झलक देख पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये कतिपय कवि अपने आश्रयदाताओं को केवल अपनी वाणी द्वारा प्रोत्साहित ही नहीं करते थे, वरन् समय पड़ने पर स्वयं तलवार हाथ में लेकर मैदान में कूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों को चलाने की अपनी कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी ये कवि देश के अंतर्विद्रोह में सहायक होकर वाणी

का दुरुपयोग भी करते थे, पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि वे उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते थे। यद्यपि जीवन के अनेक अंगों की व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती, पर कवियों ने अपनी कृतियों में वीरों के चरित्र-चित्रण में नई नई रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक कोमल कल्पनाओं का समावेश किया है। इस काल के कवियों का युद्ध-वर्णन इतना मर्मस्पर्शी तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रास-गर्भित किंतु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं।

हिंदी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध-काव्यों के रूप में और कुछ वीरगीतों के रूप में। प्रबंध के रूप में वीर-कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है।

इस काल के कवियों ने अँगरेजी के 'रोमांस'-रचयिताओं की भाँति सुंदरी रमणियों के स्वयंवर की अथवा हरण की जो कथाएँ कही हैं, उनमें प्रेमिका नारियों की निश्चित अभिलाषा और विश्वास के चित्र, उनकी निरीह, विपत्ति-परिवेष्टित दशा के संयोग से स्थान स्थान पर मर्मस्पर्शी हो गए हैं। परिस्थिति के विपर्यय से भारतीय नारीत्व का अंतर्निहित पातिव्रत दिव्य प्रकाश में आ गया है। महारानी पद्मिनी संध्या की अंतिम करुणोज्वल किरण की भाँति देश के आकाश में उदय होकर

अस्त हो गईं। नारियों के ऐसे प्रेम-विह्वल मृत्यून्मुख चित्र इसी काल के साहित्य में मिलते हैं।

पृथ्वीराजरासो—पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा-युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन-गाथा होने के कारण इसमें वीर गीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एक-रूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरित-मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में वीर भावों की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से इसकी गणना हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराजरासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीरगाथा-काल के प्रबंध-काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचंद-प्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंक-

वीर बनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिये अग्नि की शरण लेती हैं और बचे हुए केवल दो व्यक्ति आल्हा और उसका पुत्र इंदुल गृह-परित्याग कर किसी कजरी वन में जा बसते हैं। इस कजरी वन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कवि-कल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस वीरगीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध अवश्य हुए थे और उनमें वीर बनाफरों की अनेक बार विजय भी हुई थी। यद्यपि जगनिक-कृत आल्हखंड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता और उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है, फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

अमीर खुसरो—जिस प्रकार चंद बरदाई आदि वीर-गाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिंदुओं के राजदरबारों की अवस्था का अभि-

ज्ञान होता है, उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते, परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकृत करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्त्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और पारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलनेवाले जब आधुनिक हिंदी को उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रम-निवारणार्थ खुसरो की रचनाओं का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषा-शास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं और कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु-कला और संगीत-कला पर ध्यान देते हैं तब उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय हिंदू

मुसलमानों में परस्पर बहुत कुछ आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा-काल तक अपनी पूर्व-परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लगे थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" कोश तैयार करके भाषा के लेन-देन में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में हिंदू और मुसलमानों के ही ईश्वर और जगत्-विषयक विचारों का प्रकाशन देशभाषाओं में आरंभ हुआ। एक ओर कबीर की खरी, दूसरी ओर जायसी की मीठी वाणी अपने उद्दिष्ट कार्य को पूरा करने में लगी। परंतु कविता में युग-प्रवर्त्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास खुसरो में ही मिलता है।

---

(३) भक्ति-काल—ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के बाद हिंदी-साहित्य में वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। कबीर आदि संत कवियों के जन्म के समय हिंदू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वर-वाद के लिये बहुत ही उपयुक्त थी। यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसका रुकना कदाचित् कठिन हो जाता, परंतु कबीर आदि ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठा-कर जनता को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्तिभाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस समय तैयार नहीं थी। मूर्त्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे हुए, श्रद्धा-लुओं के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आनेवाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्त-

शिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी। लोगों ने उसका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में उन्हें भी ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभासमात्र मिल सकता था। पर प्रबल जल-धारा में बहते हुए मनुष्य के लिये वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिखलावे? उसकी ओर बहकर आता हुआ तिनका भी जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसी का सहारा पाने के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में यही आशा उत्पन्न करके उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह जल-राशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी। यद्यपि सहायता की आशा के आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राम-भक्ति ही उसे किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी, पर इससे जनता पर होनेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार आँखें मूँद करके सूर, तुलसी को

ग्रहण कर लेते ? सारांश यह कि संत कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष थी। उसे मृत्यु या धर्म-परिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मशील तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व युक्ति-संगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निःसारता का परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी उठ चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उलटनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुणोपासक थे। अतएव उनसे मिलते जुलते पथ पर लगाकर कबीर आदि ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिये मार्ग प्रस्तुत कर दिया और उत्तरीय भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिये उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया।

जिस समय निर्गुण संत कवियों का आविर्भाव हुआ था, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। भारतीय अद्वैतवाद और मुसल-

मानी एकेश्वरवाद के भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के विचित्र मिश्रण के रूप में निर्गुण भक्तिमार्ग चल पड़ा। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त सेना, पन्ना, भवानंद, पीपा और रैदास थे, परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पद-दलित शूद्रों की आँखें खुल गईं। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है, जातीय विचार से उनमें बराबरी का भाव अधिक है। अतएव इन ठुकराए हुए शूद्रों में से कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता उद्घोषित कराने का विचार किया। इस नवोत्थिता भक्ति-तरंग में सम्मिलित होने के कारण हिंदू-समाज में प्रचलित भेद-भाव के विरुद्ध आंदोलन होने लगा। रामानंदजी ने सबके लिये भक्ति का मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे, पर उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि

नहीं कर सकते और न सूर, तुलसी की सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रेम की जैसी मार्मिक वेदना अंकित कर मनुष्य-हृदय से सहानुभूति प्रकट की, निर्गुण संत कवि उस ओर ध्यान न दे सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी-साहित्य में अत्यंत उत्कर्षपूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की प्रांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके संदेशों में जो व्यापक विराग है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो निश्छल प्रेरणा है, वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है।

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं—

कबीर—अब तक के अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म-संवत् १४५६ और मृत्यु-संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि ये ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित-पालित हुए। कदाचित् उनका बाल्यकाल मगहर में बीता था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल के कुछ पहले उन्हें पुनः

मगहर जाना पड़ा था। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को इन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेख तकी नामक कोई सूफी मुसलमान फकीर थे। धर्मदास और सुरतगोपाल नाम के उनके दो चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीरपंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरतगोपाल काशी वाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथ प्राय: लोई का नाम भी लिया जाता है। संभवत: लोई उनकी पत्नी और कमाल इनका पुत्र था।

कबीर बहुश्रुत थे। उनको सत्संग से वेदांत, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा ज्ञान हो गया था, परंतु वेदों का उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। कबीरदास सरल जीवन के पक्षपाती तथा अहिंसा के समर्थक थे। उन्होंने शाक्तों की बड़ी निंदा की है।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। कबीरदास छंद:शास्त्र से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिंता उनके लिये व्यर्थ थी; परंतु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी।

कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है, क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना में कई भाषाओं

के शब्द मिलते हैं, परंतु भाषा का निर्णय प्रायः शब्दों से नहीं होता।

कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसी से उन पर बाहरी प्रभाव बहुत अधिक पड़े। भाषा और व्याकरण की स्थिरता उनमें नहीं मिलती। यह भी संभव है कि उन्होंने जान-बूझकर अनेक प्रांतों के शब्दों का प्रयोग किया हो।

कबीर ही हिंदी के सर्व-प्रथम रहस्यवादी कवि हुए। सभी संत कवियों में थोड़ा-बहुत रहस्यवाद मिलता है, पर उनका काव्य विशेषकर कबीर का ही ऋणी है। बँगला के वर्तमान कवींद्र रवींद्र को भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। हिंदी की वर्त्तमान काव्य-प्रगति में भी कबीर के रहस्यवाद की छाप देख पड़ती है।

कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों की नकल नहीं था और न वह सुनी-सुनाई बातों का बेमेल भांडार ही था। पढ़े-लिखे तो वे थे नहीं, परंतु सत्संग से भी जो बातें मालूम हुईं उन्हें वे अपनी विचार-धारा के द्वारा मानसिक पाचन से सर्वथा अपनी ही बना लेने का प्रयत्न करते थे।

गुरु नानक—प्रसिद्ध सिक्ख संप्रदाय के संस्थापक तथा प्रथम गुरु नानकजी जाति के खत्री थे। इनके पिता कालू-चंद खत्री लाहौर के निवासी थे। इन्होंने प्रारंभ में वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था और इन्हें श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के दो पुत्र भी हुए थे। गुरु नानकजी ने घर-बार छोड़कर

जब संन्यास ग्रहण किया तब, कहा जाता है कि, उनकी भेंट महात्मा कबीर से हुई थी। कबीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रंथ साहब में कबीर की वाणी भी संगृहीत है। नानकजी पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केंद्र था। इसलाम धर्म और हिंदू धर्म के संघर्ष के कारण पंजाब में जो अशांति फैलने की आशंका थी, नानकजी ने उसे दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी वाणी में हिंदू और मुसलमान विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है।

कबीर की ही भाँति नानक भी अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, पर साधुओं के संसर्ग तथा पर्यटन के अनुभव से नानक के उपदेशों में एक प्रकार की विशेष प्रतिभा तथा प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। यह ठीक है कि काव्य की कृत्रिम दृष्टि से नानक की कविता साधारण कोटि की ही समझी जायगी, परंतु कला में जो स्वाभाविकता तथा तीव्रता अपेक्षित होती है, उसकी नानक में कमी नहीं है। नानक के पद सिक्खों के प्रसिद्ध 'ग्रंथ साहब' में एकत्र किए गए हैं। यह ग्रंथ सिक्खों का धर्मग्रंथ है और अत्यंत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।

दादू—दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में बतलाया जाता है। इनकी जाति का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण बतलाते हैं और कुछ इन्हें मोची या धुनिया मानते हैं। संभ-

वतः ये नीची जाति के ही थे। ये स्पष्टतया कबीर के शिष्य तो नहीं थे, पर इन्होंने अपने सभी सिद्धांतों को कबीर से ही ग्रहण किया है। दादू का एक अलग संप्रदाय चला था और अब भी अनेक दादूपंथी पाए जाते हैं। इनकी मृत्यु जयपुर प्रांत के अंतर्गत 'भराने की पहाड़ो' नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान अब तक दादूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादू का प्रचार-क्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आस-पास का प्रांत था, अतः उनके उपदेशों की भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं जिनमें सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना आदि के उपदेश दिए गए हैं। इनकी वाणी में कबीर की वाणी से सरसता तथा तत्त्व अधिक है, यद्यपि ये कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे। कबीर तर्कप्रिय थे, अतः उन्हें तार्किक की सी कठोरता भी धारण करनी पड़ी थी; परंतु दादू ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। आरंभ-काल के संत कवियों में ये पढ़े-लिखे जान पड़ते हैं।

मलूकदास—ये औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त कवि थे। "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत होती थी और

इनको छंदों का भी ज्ञान था। रत्नखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी व्यक्त की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में सं० १७३९ में इनकी मृत्यु हुई थी। ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे।

सुंदरदास—संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इन्होंने काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी वाणी में उनके उपनिषदों आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभावसिद्ध मौलिकता तथा प्रतिभा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विशेष नहीं पड़ा। सुंदरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षरअनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है, साथ ही तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किये हुए उपकार नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों

के उस संघर्ष-काल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, उसी की अभिव्यंजना संतों ने की। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार की दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जायगा। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन संत महात्माओं के कारण हिंदी-साहित्य का बड़ा उपकार हुआ।

---

(४) भक्तिकाल—प्रेममार्गी शाखा

कबीर आदि संतों की बानी अटपटी थी। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों तथा पुराणों की निंदा करके एक प्रकार के दंभ-रहित सरल सदाचारपूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मेल मिलाया गया। इसी प्रकार हिंसा और मांस-भक्षण का खंडन कर तथा नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सका था। फिर भी कबीर आदि की साधु वाणी का देश के साधारण जन-समुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह कहने-सुनने की बात नहीं है। वे संत अधिक पढ़े-लिखे न थे, उनकी भाषा में साहित्यिकता न थी, उनके छंद ऊटपटाँग थे तथापि उन्हें जनता ने स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सूफी कवियों के उद्गार अधिकतर शृंखलित और शास्त्रानुमोदित थे। उनकी भाषा भी अच्छी मँजी हुई थी और छंद आदि का भी उन्हें ज्ञान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सूफी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न

उनका अधिक प्रचार हो हुआ। इनमें से अनेक कवि तो नामावशेष ही थे और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। साहित्यिक समाज में भी इन कवियों की कृतियों का विशाष प्रचार नहीं हुआ। इनकी कविताओं के उदाहरण न तो लक्षण-ग्रंथों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में हो उन्हें स्थान दिया गया है। संभवत: सूफी कविता की नायक की प्रेम-विकलता और आस्फालन इस देश की जल-वायु के उतने अनुकूल नहीं थे जितना कबीर आदि की अटपटी वाणी के भीतर छाई हुई प्रशांत वैराग्य की स्थिरता।

प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन के समय से चली। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनके प्रेम-काव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् ९०९ हिजरी में लिखा था। चंद्रनगर के अधिपति गणपति देव के राजकुमार तथा कांचननगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेम-गाथा इसमें अंकित की गई है। प्रेममार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक खंडित प्रति खोज में मिली है। इसके रचयिता मंझन बड़े ही सरसहृदय कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत

किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्मावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही रोचकता ला दी है। इसमें मानव-हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अखिल दृश्य जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और आनंदातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उसमान, शेख नबी, नूरमुहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए, पर पद्मावत का सा विशद काव्य फिर नहीं लिखा गया। सगुणोपासक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आविर्भाव से प्रेमगाथा-कारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई थी।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें मिलती-जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की मसनवियों में ईश्वर-वंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशंसा आदि का उल्लेख कथा-रंभ के पहले होता था, उसी प्रकार इनमें भी है। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्रायः एकसी है। यह भाषा अवध प्रांत की है।

इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अवध की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्राय: दोहों और चौपाइयों में ही ग्रंथ-रचना की है। ये छंद अवधी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरित-मानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद तो मानों अवधी भाषा के लिये ही बनाया गया है, क्योंकि व्रजभाषा के कवियों ने इस छंद का सफलता-पूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि मुसलमान थे। एक तो यह संप्रदाय ही मुसलमानों के सूफी मत को लेकर खड़ा हुआ था। दूसरे हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग सगुणोपासना चल पड़ी और वे व्यक्त के भीतर अव्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा अव्यक्त के अवतार रूप में राम और कृष्ण की जीवन-गाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। मुसलमान प्रारंभ से ही मूर्तिद्वेषी थे। अत: उन्हें सूफियों की शैली के प्रचार का विशेष सुभीता था।

प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है उसमें विदेशीयता ही नहीं है, भारतीय शैलियों का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उतना प्रेमोन्मुख नहीं होता जितनी नायिका होती है, परंतु जायसी आदि ने फारसी की शैली का अनुसरण करते हुए

नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्न-शील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। सूफी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप में करते थे। इसलिये जायसी आदि को भी नायक के प्रेम को हीं प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है, क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कलाओं के अवतार, जगदुद्धारक, योगीश्वर आदि माने जाते हैं और उनके प्रति गोपिकाओं का प्रेम पुरुष के प्रति प्रकृति का प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर ही संतोष नहीं कर लिया, वरन् उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी दिखाया। दूसरी बात यह भी है कि इस देश में प्रेम की कल्पना लोक-व्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्त्तव्य-बुद्धि से उच्छृंखल प्रेम का नियंत्रण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम में ऐकांतिकता आ गई है। परंतु सूफियों के प्रेम की तरह वह भी बिलकुल लोक-बाह्य नहीं है। भारतीय सूफी कवियों ने इस देश की प्रेम-परंपरा का तिरस्कार नहीं किया। उनका प्रेम बहुत कुछ लोक-

व्यवहार के परे है, पर फिर भी असंयत नहीं। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पति-प्रेम आदि का दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त प्रेम-वर्णनों में अश्लील दृश्यों को भरसक बचाकर प्रकृति के सुरम्य रूपों को चित्रित कर यहाँ के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्यों को भारतीय जल-वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया है।

सूफी सिद्धांत के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाती है, इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुःखांत हुई है। आरंभ में तो यह बात बनी रही; पर आगे चलकर इस संप्रदाय के कवि यह बात भूल गए अथवा भारतीय पद्धति का, जिसमें आदर्शवाद प्रधान था और जिसके अनुसार दुःखांत नाटक तक नहीं बने, उन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नायक और नायिका को भोग-विलास और सुख-चैन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूफी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेम-प्रबंधों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है, परंतु वह लौकिक कथा उनकी हृदयानुभूति को व्यक्त करने का साधन मात्र है। उस कथा से उनका संबंध बहुत घनिष्ठ नहीं है, वहीं तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिव्यंजन में समर्थ होती है। सूफियों का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है, परंतु ईश्वर तो निराकार है, निर्गुण है, अवर्णनीय है।

हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाओं की सहायता लेनी पड़ती है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि चित्तौड़ के अधिपति रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राज-कन्या पद्मावती की कथा कही गई है, परंतु जायसी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपक-मात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, कवि की दृष्टि से स्वतः उनका विशेष महत्त्व नहीं। यह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अतः साहित्य-समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच बीच में अप्रस्तुत की ओर संकेतमात्र मानते हैं, परंतु संत सूफियों का ठीक आशय समझने में हम भूल नहीं कर सकते। रत्नसेन और पद्मावती के लौकिक रूप से उनका उतना संबंध नहीं था जितना अपने पारमार्थिक प्रेम से था। कथा-प्रसंगों में, बीच बीच में, प्रेमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं और अव्यक्त से विशाल प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है कि

हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस ओर जाती देख पड़ती है जिस ओर ले जाना प्रेममार्गी संत कवियों का लक्ष्य था।

कबीर आदि संतों का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है, अतः वह उतना काव्योपयोगी नहीं है जितना जायसी आदि सूफियों का। जायसी ने अपनी रहस्यात्मकता को दृश्य जगत् के नाना रूपों का अव्यक्त के साथ संबंध चरितार्थ करते हुए दिखाया है। कभी जब यह दृश्य जगत् अव्यक्त से वियुक्त होता है, तब वियोग के कितने ही व्यापक और रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं; कभी जब इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानों आनंदोल्लास से नाच उठती है। इस प्रकार प्रकृति की ही सहायता से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। इसके विपरीत कबीर ने वेदांत के अनेक वादों तथा अन्य दार्शनिक शैलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किए हैं।

जायसी के कुछ काल उपरांत जब तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तब सूफियों की कविता क्षीण हो चली। हिंदुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह में सूफियों की निर्गुण भक्ति ठहर न सकी, बह गई। उसमान जहाँगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परंपरा में थे, हाजी बाबा इनके गुरु थे। संवत् १६७० में इनका चित्रावली नामक काव्य लिखा गया। सभी प्रेमगाथाओं की भाँति इसमें भी पैगंबर गुरु आदि की वंदना है और बादशाह जहाँगीर को भी स्मरण किया गया है।

उसमान के उपरांत शेख नबी हुए। परंतु इनके उपरांत प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्जीव सा हो गया। यद्यपि कासिमशाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का ह्रास साफ बोलता सा जान पड़ता है। हाँ, नूर मुहम्मद की "इंद्रावती" की प्रेम-कहानी अवश्य सुंदर बन पड़ी है। यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी।

क्या भावों के विचार से और क्या भाषा के विचार से सूफी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। वीर-गाथा-काल में केवल वीरोल्लासपूर्ण कविता का सृजन हुआ, वह भी परिमाण में अधिक नहीं। उस काल की भाषा तो बिलकुल अविकसित थी। अक्खड़ कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी भोंडी बन गई। उसके उपरांत कबीर का समय आया। कबीर महात्मा थे और उनके द्वारा साहित्य में पूत भावनाओं का समावेश हुआ। काव्यत्व के विचार से उन पूत भावनाओं का उत्कर्ष चाहे अधिक न हो, पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। कबीर की भाषा तो बहुत ही बिगड़ी हुई है। कुछ पंजाबी खड़ी बोली, कुछ ब्रजभाषा और कुछ अवधी का पुट देकर जो खिचड़ी तैयार हुई वह रमते साधुओं के काम की भले ही हो, सर्वसाधारण—विशेषकर परिमार्जित रुचि रखनेवालों—के लिये उसमें कुछ भी नहीं है। सूफी कवियों ने अपने उदार भावों को

पुष्ट भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया। कबीर आदि संतों की बानी सामूहिक रूप से देश के लिये बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई। परंतु सूफियों की प्रबंध-रचनाओं ने सामाजिक हित भी किया और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रवेश करते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ भुला दिए गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हो गई, पर इतना कहना ही पड़ेगा कि तुलसी को एक मार्जित भाषा देकर रामचरित-मानस की रचना में सहायक होने में जायसी आदि सूफियों का नाम अवश्य लिया जायगा। हिंदुओं के प्रति सहानुभूति इन मुसलमान कवियों की खास विशेषता है। इनका हृदय अतिशय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओत-प्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत रहस्यवाद है जिसकी समता हिंदी-साहित्य में कोई नहीं कर सकता।

इन मुसलमान सूफी कवियों की देखा देखी हिंदू कवियों ने भी उपाख्यान-काव्यों की रचना की। पर इन सब काव्यों का ढंग या तो पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा पूर्णतया साहित्यिक है। सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म की जो लहर अदृश्य रूप से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन-पद्मावती कथा, ढोलामारू री चउपही, रसरतन काव्य, चंद्रकला, प्रेम-पयोनिधि, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, हरिचंद्र पुराण

आदि हैं। इनके संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाख्यानों की परंपरा के परिणाम-स्वरूप उन अमर काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी-साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

---

(५) भक्ति-काल—राम-भक्त शाखा

वैष्णव भक्ति की रामोपासिका शाखा का आविर्भाव महात्मा रामानंद ने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया था। यद्यपि रामानंद के पहले भी नामदेव तथा त्रिलोचन आदि प्रसिद्ध भक्त हो चुके थे, पर उन्होंने भक्ति-आंदोलन को एक नवीन स्वरूप देकर तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय और उदार बनाकर हिंदू धर्म के उन्नायकों में सम्माननीय स्थान पर अधिकार पाया। कबीर, तुलसी और पीपा आदि उनके शिष्य अथवा शिष्य-परंपरा में थे और इसी से उनके महत्त्व का अनुभव हम अच्छी तरह कर सकते हैं।

स्वामी रामानंद यद्यपि रामानुज के ही अनुयायी थे, पर मंत्र-भेद, तिलक-भेद तथा अन्य विभेदों के कारण कुछ लोग उन्हें श्री वैष्णव सप्रदाय में नहीं मानते। वे त्रिदंडी संन्यासी नहीं थे, अतएव उनमें और श्री संप्रदाय में भेद बतलाया जाता है। परंतु यह निश्चित है कि रामानंद काशी के बाबा राघवानंद के शिष्य थे और बाबा राघवानंद श्री संप्रदाय के वैष्णव संत थे। यद्यपि यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि रामानंद और राघवानंद में आचार के संबंध में कुछ मतभेद हो जाने के कारण रामानंद ने अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाबा राघवानंद की मृत्यु के उपरांत

रामानंदजी ने राम-भक्ति का मार्ग प्रशस्त कर उत्तर भारत में एक नवीन भक्ति-मार्ग का अभ्युदय किया।

राम-भक्ति की शाखा महात्मा रामानंद द्वारा विकसित हुई। कबीर, पीपा, रैदास, सेना, मलूक आदि संत सब रामानंद के ऋण से ऋणी हैं, यद्यपि उनके चलाए हुए संप्रदायों पर विदेशीय प्रभाव भी पड़े और अनेक साधारण विभेद भी हुए। जनता पर इन संतों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परंतु महात्मा रामानंद का ऋण इन संतों तक ही परिमित नहीं है। इनकी शिष्य-परंपरा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास हुए जिनकी जगत्प्रसिद्ध रामायण हिंदी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर भारत के धर्मप्राण जनसाधारण का सर्वस्व है। कबीर आदि संतों के संप्रदाय देश के कुछ कोनों में ही अपना प्रभाव दिखा सके और पढ़ी-लिखी जनता तक उनकी वाणी पहुँच भी न सकी, परंतु गोस्वामी तुलसीदास की कविता ऊँच-नीच, राजा-राव, पढ़े-बेपढ़े सबकी दृष्टि में समान रूप से आदरणीय हुई। ये गोस्वामी तुलसीदासजी स्वामी रामानंद के ही उपदेशों को ग्रहण करके चले थे, अतः स्वामी रामानंद का महत्त्व हम अच्छी तरह समझ सकते हैं और उनके उपदेशों से अंकुरित राम-भक्ति को आज असंख्य घरों में फैली हुई देख सकते हैं।

तुलसीदास—महाकवि तुलसीदासजी का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका कारण उनकी उदारता,

उनकी प्रतिभा तथा उनके उद्‌गारों की सत्यता आदि तो है ही, साथ ही विलक्षण प्रतिभा तथा उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नाना पुराणनिगमागमसम्मत" रामचरित-मानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकीय रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरित-मानस में मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों—विशेषतः अध्यात्म-रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्‌भुत रामायण—का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकीय रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्‌भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य की सृष्टि की, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता की भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरित-मानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है। गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव उसी पर अवलंबित है। रामचरित-मानस करोड़ों भारतीयों का एक मात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में वेद, उप-

निषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरित-मानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्न कोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरित-मानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू-धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार है। शिव उनके लिये उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू-धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरित-मानस में उनका वह रूप बड़ी मार्मिकता से व्यक्त हुआ है।

गोस्वामीजी के रामचरित-मानस और विनयपत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्णगीतावली,

वैराग्यसंदीपनी, पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज में किया गया है, परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में सम्मिलित हो गई हैं, तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा वेणीमाधवदासजी ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।" पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्त्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिये कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित के बाहर जाकर भी उन्होंने मानव-समाज के लिये हित-

कर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरित-मानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, राम-राज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है, उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य-समाज के प्रति हित-कामना स्पष्टतः झलकती देख पड़ती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांतःसुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करने-वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा अधिक संकुचित है। महाकवि सूर की भावना की तीव्रता

और प्रेम की अनन्य तन्मयता अप्रतिम है। कृष्ण के रंग में सराबोर होकर वे ऐसे गाफिल हो गए थे कि भाषा की छटा अथवा कथा की उत्कृष्ट रूपरेखा दिखाने में उनकी रुचि ही नहीं रह गई थी। गार्हस्थ्य जीवन के महिमामय आदर्शों को प्रकट करने की उनमें शक्ति ही कहाँ थी जब वे कृष्ण की ही एकान्त कामना में पूर्ण शिथिल हो गए थे। इस कवि की वाणी समाधि की सी अवस्था में मूर्च्छित है। तुलसी की वाणी तो निष्ठावती है। तुलसी का काव्य-कौशल सूर को प्राप्त नहीं। गोसाईंजी का काव्य मुमुक्षुओं के लिए ही नहीं सांसारिकों के लिए भी प्रणीत है अतएव उसकी व्यापकता का तो कहना ही क्या। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है। तथापि सूर के काव्य की कुछ अलग विशेषताएँ हैं जिनकी यथार्थ व्याख्या के लिये काव्य की लौकिक मान्यताएँ ही पर्याप्त नहीं है और जिनके विवेचन का यह उपयुक्त स्थान भी नहीं है।

महाकवि तुलसीदास के उपरांत राम-भक्ति के अन्य कितने ही कवि हुए जिनमें 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास तथा प्राणचंद, हृदयराम, विश्वनाथसिंह, रघुराजसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं।

———

*

(६) भक्ति-काल—कृष्ण-भक्त शाखा

शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिये जगह न थी, यह हम पहले ही कह चुके हैं। शंकर के उपरांत स्वामी रामानुजाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, वह भी भक्ति के बहुत उपयुक्त न था। भागवत पुराण में भक्ति का दृढ़ मार्ग निरूपित हुआ और मध्वाचार्य ने पहले पहल द्वैत मत का प्रचार कर भक्त और भगवान् के संबंध को सिद्ध किया। उन्होंने पहले शांकर मत की शिक्षा पाई थी। भागवत पुराण के अध्ययन का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे शंकर के ज्ञान-मार्ग के विरोधी और भक्ति के समर्थक बन गए। उत्तर भारत में उनके सिद्धांतों का प्रत्यक्ष में तो अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, पर अनेक संप्रदाय उनके उपदेशों का आधार लेकर दक्षिण में खड़े हुए और देश के विस्तृत भू-भागों में फैले। हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियों में विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। परंतु विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णुस्वामी तथा निंबार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में ही और न माध्व मत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करनेवाली अनेक गोपियों में राधा भी हो

सकती हैं, पर कृष्ण की चिर प्रेयसी के रूप में वे नहीं देख पड़तीं। उन्हें यह रूप विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों में ही पहले पहल प्राप्त हुआ था। विष्णु स्वामी मध्वाचार्य की ही भाँति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णु स्वामी के ही समकालीन निंबार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृंदावन में निवास कर गोपाल कृष्ण की भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर-निवास करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क के मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार का ही विशेषत: वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलत्व भी आ गया है। पर अधिकांश स्थलों में प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्त्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के चंडीदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राधा की प्रधानता स्वीकृत की है। प्रसिद्ध भक्त और हिंदी की कवयित्री मीरा-बाई के प्रसिद्ध पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में गोपाल कृष्ण का स्मरण है जो निंबार्क-संप्रदाय के प्रचलन

के अनुसार है। मीराबाई के कुछ पदों में जो अश्लीलता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निःसंदेह सात्त्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क के मत की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निंबार्काचार्य रामानुज के अनुयायी थे।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहलाए। शंकर के ज्ञान के बदले ये भक्ति को ग्रहण करते हैं और भक्ति ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है।

सूरदास—वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उल्लास मिला। सूरदास का जन्म लगभग सं० १५४० में आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में हुआ था।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेश में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निःसृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो

पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता के विषय में किसी को कुछ कहना नहीं है।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है। पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु वह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः हम सूरसागर को गीति-काव्य कह सकते हैं। गीति-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूर्ण जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती,

केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरदास की कीर्त्ति को अमर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ हो जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरलता, और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी सार्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आप से आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर लेते हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना बड़ा ही कठिन है।

महाकवि सूरदास के अतिरिक्त राधाकृष्ण के प्रेम में मग्न, सरस पद-रचना-चतुर कृष्णराम, परमानंद, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, गोविंदस्वामी आदि अष्टछाप के कवि वल्लभस्वामी और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की शिष्य-परंपरा में हुए। इन अनेक उत्कृष्ट कवियों से हिंदी-साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि हुई।

हितहरिवंश और स्वामी हरिदास—अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करनेवालों में ये कवि विशेष रीति से उल्लेख योग्य हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। हित-हरिवंशजी माध्व और निंबार्क मतों से प्रभावित थे, पर उन्होंने राधा की उपासना ग्रहण कर राधावल्लभी संप्रदाय की सृष्टि की। उनके "राधा-सुधानिधि" और "हित चौरासी" नामक ग्रंथ के सभी पद अत्यंत कोमल और सरस हुए हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई। अत्यंत कोमल भावापन्न, प्रेम में डूबे हुए पदों के रचयिता रसखान भी इस युग के भक्तिस्रोत में मग्न महाकवि हुए।

अकबरी दरबार—इन भक्त कवियों के समकालीन प्रसिद्ध मुगल-सम्राट् अकबर के दरबार में भी अनेक कवियों को प्रश्रय मिला था। अकबर का राजत्व-काल सुख और समृद्धि से सम्पन्न था। वैभव की अट्टालिकाएँ खड़ी की जा

रही थीं। हिंदू और मुसलमानों का साम्य बढ़ रहा था। ऐसे अवसर पर नीतिकार और सूक्तिकार कवियों का अभ्युदय स्वाभाविक था।

रहीम—अकबर के दरबार के उच्च कर्मचारी होते हुए भी ये हिंदी कविता की ओर खिंचे थे। नीति के सुंदर-सुंदर दोहे इन्होंने बड़ी मार्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वैभव का अच्छा अनुभव करने के कारण रहीम की तत्वसंबंधी उक्तियों में तीव्र भाव-व्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद ठेठ अवधी के माधुर्य से समन्वित है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास तक ने इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरवै रामायण लिखी थी। गोस्वामीजी की ही भाँति रहीम का अवधी और व्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुईं। गोस्वामीजी से इनकी भेंट हुई थी और दोनों में सौहार्द भाव भी था। ये बड़े ही उदारहृदय दानी थे और इनका अनुभव बड़ा ही विस्तृत, सूक्ष्म और सत्य था।

गंग और नरहरि—ये दोनों ही अकबर के दरबार के श्रेष्ठ हिंदू कवि थे। गंग की शृंगार और वीर रस की जो रचनाएँ संग्रहों में मिली हैं, उनसे भाषा पर इनके अधिकार और वाग्वैभव का पता चलता है। जनता में इनका बड़ा नाम

है, परंतु इनकी एक भी रचित पुस्तक अब तक नहीं मिली। "तुलसी गंग दोऊ भये, सुकविन के सरदार" की पंक्ति इन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है। नरहरि बंदीजन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गो-वध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक छंद लिखे।

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्चातुरी तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे। इनके आश्रय में कवियों को अच्छा सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं व्रज-भाषा में सरस और सानुप्रास रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति-संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनोहर, होलराय आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी व्रजभाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। व्रजभाषा को इतना बड़ा राजसम्मान इसके पहले कभी नहीं मिला था।

दरबार से असंपर्कित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। इन्होंने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदय-ग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनु-भव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष तीव्र था। इनको पिछले समय की भक्ति और वैराग्य की रचनाएँ चित्त पर स्थायी

प्रभाव डालती हैं। इनकी भाषा व्रज की ग्रामीण होते हुए भी अलंकृत है। इनका कवित्त-रत्नाकर अब तक अप्रकाशित है।

इसी काल की रचनाओं में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरित्र" भी है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्व-काल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भावों की दृष्टि से, विशेष प्रौढ़ हुई थी।

---

(७) रीति-काल

हिंदी में सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्य-कलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा-पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदासजी ने अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम अभिज्ञान दिखाया है। अंतर इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित

हुई कि बिना रीति-ग्रंथ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिंदी-साहित्य के इस काल को हम इसी लिये रीति-काल कहते हैं। नीचे रीति-काल के कुछ मुख्य कवियों तथा आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास—यद्यपि समय-विभाग के अनुसार केशवदास भक्ति-काल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत-साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्य-धारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए।

केशवदास ओड़छे के राजा इंद्रजित्‌सिंह के आश्रित दरबारी कवि थे। संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञ पंडित-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण इनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रंथों की ओर हुई थी। संस्कृत से पूर्ण परिचित होने के कारण इनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित और साहित्यिक है। इनकी कृतियों में, कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका आदि मुख्य हैं। यद्यपि केशव के पहले भी कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति-साहित्य के निर्माण का प्रारंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केशवदास के सर्वतोमुख प्रयास के सामने एकांगी हो गई हैं। रीति-काल के इन प्रथम आचार्य केशवदास का स्थान हिंदी में बहुत

अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ आलोचक उन्हें हृदयहीन कहते हैं, पर हृदयहीन कहकर संबोधित करने में हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी-समझी हृदयहीनता है और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रहे, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है? यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हैं। वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं।

चिंतामणि और मतिराम—ये त्रिपाठी-बंधु मुक्तक छंदों में रीति-शैली की रचना करनेवालों में अग्रगामी हुए। चिंतामणि के काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश आदि बड़ी ही सरस कविता-पुस्तकें हैं। मतिराम तो अपनी भाषा और भावों के सरल, सुंदर स्वाभाविक प्रवाह के लिये रीति-काल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में परिगणित हुए। रसराज और ललितललाम रीति-काल की श्रेष्ठ रचनाएँ इनकी ही कृतियाँ हैं।

बिहारीलाल—रीति-काल के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। बिहारी उस श्रेणी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय हैं जो अलग अलग दोहों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की करामात पसंद करते हैं। सौंदर्य

और प्रेम के सुंदरतम चित्र बिहारी ने खींचे हैं। पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी-तुली हो जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित नहीं है। बिहारी ने घाट-बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। यह सब होते हुए भी उनकी सतसई हिंदी की अमर कृति कहलायगी और श्रेणी-विशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रेमियों के लिये तो वह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दोहे जैसे छोटे छंद में इतने अलंकारों की सफल योजना करने में बिहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले।

देव—ये इटावे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहे जाते हैं*। इनका काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति-काल के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख पड़ती। देव की सौंदर्य-विवृत्ति बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी है। परंतु इनके गायन का मुख्य विषय प्रेम है। रीति-काल के थोड़े से आचार्यों में देव की गणना की जाती है। रीति-संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उद्भावनाओं का उल्लेख मिश्र-बंधुओं ने किया है। पांडित्य की दृष्टि से रीति-काल के समस्त कवियों

---

* इस संबंध में पं० शालग्राम शास्त्री का मत दूसरा है।
(माधुरी)

में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा का मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्य-क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीति-काल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

भिखारीदास—ये द्योंगा, प्रतापगढ़ (अवध) के रहने-वाले कायस्थ कवि थे। इनका काव्य-निर्णय अब भी रीति के विद्यार्थियों का प्रिय ग्रंथ है। भिखारीदास के आचार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सब अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़े आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौलिक उद्भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है। कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उठतीं। रीति-काल के पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लेकर स्वतंत्र विषय खड़ा करने में यद्यपि वे बड़े पटु थे, पर भावों के निर्वाह की मौलिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अवध में रहकर शुद्ध चलती ब्रजभाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है, पर दासजी की भाषा सामान्यतः शुद्ध और साहित्यिक है। इससे उनके ब्रज-भाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है। समीक्षा-बुद्धि के अभाव के कारण रीति की लीक पर चलनेवाले अनेक

कवियों से भिखारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कभी स्थान नहीं दिया गया।

पद्माकर—रीति-काल के अंतिम चरण के पद्माकर सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पिता का प्रसिद्धि के कारण अनेक राजदरबारों में इनका सम्मान हुआ था। इनकी शृंगाररस की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुईं कि इनके नाम पर कितने ही कवि-नामधारियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं से सने उद्गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी इनके नाम की ओट लेकर बहुत सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में यदि थोड़ा अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दशगुणा। पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहाँ भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवश्य भंग होगा और भाषा में अवश्य तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भावधारा को सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं।

इसके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी, कुलपति मिश्र, कृष्ण कवि, ग्वाल कवि और घनानंद या आनंद घन जिन्हें शुद्ध ब्रज-भाषा का मार्मिक कवि कहा गया है, ठाकुर, तोषनिधि, थान कवि, दूलह, द्विजदेव, नेवाज, पजनेस, प्रतापसाहि, बोधा, भूपति

(राजा गुरुदत्त सिंह), मंडन मिश्र और महाराज जसवंतसिंह, यशोदानंदन, रघुनाथ, रसनिधि और रसलीन, रसिक सुमति, श्रीधर या मुरलीधर, श्रीपति और सुखदेव मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

भूषण और लाल—हिंदी के इस सर्वतोव्याप्त शृंगार-प्रवाह के बीच भूषण और लाल का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने जातीय जागति का शक्तिशाली उपक्रम किया। औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके मार्ग-प्रदर्शन का कार्य समर्थ गुरु रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुंदेल-खंड के प्रसिद्ध अधिपति छत्रसाल ने भी स्थानीय राजपूत शक्ति को उत्तेजित करने का सफल प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी झलक दिखाई पड़ी। संयोग से इन दोनों राष्ट्रोन्नायकों को भूषण तथा लाल जैसे सुकवियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति-संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों की सम्मिलित सहायता मिलती है, तब वह बड़े ही सौभाग्य की सूचना होती है और उससे उनके कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निर्धारित

हो जाता है। उसी काल में सिक्खों की वीरता का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रहित की साधना में पूरा पूरा सहयोग दिया, पर सिक्ख धर्म का आरंभ संतों की वाणी तथा उन्हीं की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की स्थिति ने इस धर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह संत साधुओं के धर्म का बाना उतारकर वीरों की वेश-भूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि गुरु गोविंदसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई, पर वे वीरगाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रगति के अनुकूल थे। भूषण और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति-ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नायिका-भेद की पुस्तकों, नखशिख-वर्णनों और शृंगाररस के फुटकर पद्यों का जो प्रबल प्रवाह उस समय चला था, उससे बचकर रहना तत्कालीन किसी कवि के लिये बड़ा ही कठिन था। भूषण और लाल भी उस सर्वतोमुख प्रवाह से एकदम बचे न रह सके। यद्यपि भूषण की सभी रचनाएँ प्रायः वीररस की हैं, परंतु उन्होंने अपने "शिवराजभूषण" नामक ग्रंथ में उन रचनाओं को विविध अलंकारों आदि के उदाहरण-स्वरूप रखा है। यह काल-दोष था। उस समय इससे बच सकना असंभव था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि वीरव्रत धारण किया था, तथापि

"विष्णु-विलास" नामक नायिका-भेद की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के 'छत्रप्रकाश' नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध छत्रसाल की वीरगाथा अंकित है और प्रबंध-काव्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उन्हीं की भाँति इनकी इस रचना में शृंगाररस नहीं आने पाया है।

---

(८) आधुनिक काल—पद्य-प्रवाह

कविता में परिवर्तन—हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आंदोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने "भारतदुर्दशा" नाटक के प्रारंभ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था। इस देश के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जयंती-दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, और रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा की थी। उसी दिन छिन्न-भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था। देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक देखी थी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनोवृत्तियों का अंत करने के लिये स्वयं सरस्वती ने राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। भारत माता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने अपने साहित्य में देख ली और टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक गंभीर झंकार सुनकर नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के उद्योग से सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची, उसके परिणाम-स्वरूप सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई, जनता में लोकभावना का विस्तार। इससे शिक्षा की ओर भी अभिरुचि बढ़ी। संस्कृत तथा उर्दू फारसी की ओर प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणा स्वामी दयानंद से अधिक मिली और हिंदी अँगरेजी की पढ़ाई तो कुछ पहले से ही आरंभ हो चुकी थी। पड़ोस में होने के कारण उन्नतिशील बँगला भाषा की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान लगभग उसी समय के खिंचा। इस प्रबल राष्ट्रीय शिक्षा का जो प्रभाव राजनीतिक अभिज्ञता, सामाजिक जागर्ति और धार्मिक चेतना आदि के रूप में पड़ा, वह तो पड़ा ही, हिंदी-साहित्य-क्षेत्र भी उसके शुभ परिणाम-स्वरूप अत्यंत उर्वर हो चला। सारा साहित्य नवीन प्रकाश से परिपूर्ण होकर ज्योति की दिव्य किरणें विकीर्ण करने लगा। हमारी कविता भी सजग हो उठी। वह अपनी स्थविरता का परित्याग कर आगे बढ़ी और सामयिक प्रवृत्तियों के अनुकूल रूपरंग बदलकर शिक्षित जनता का सहचरी बन गई। इस काल की हिंदी कविता मुख्यतः देश-प्रेम और जातीयता की भावना को लेकर उदित हुई, यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाएँ भी थोड़ी बहुत मात्रा में होती रहीं।

हरिश्चंद्र—भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता हिंदी में नवीन प्रगति की पताका फहराती हुई आई। उस समय के

अन्य कवियों ने सच्चे सैनिकों की भाँति अपने सेनापति का अनुगमन किया। उन सभी कवियों पर भारतेंदु का प्रभाव स्पष्टतः देख पड़ता है। उनकी जो रचनाएँ जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखी गईं, जिनमें देश की दुर्दशा और समाज की शोचनीय अवस्था का वर्णन है, उस समय बड़ी प्रभाव-शालिनी सिद्ध हुईं। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके सहयोगियों में उत्कट देश-प्रेम और समाज-हितैषिता के भाव थे, परंतु उन मंगलमय भावों का अवतारण साहित्य की रसधारा के रूप में करके गंगा की भाँति उन्हें प्रवाहित करना भगीरथ-कार्य था। यह कवियों के लिये उस समय एक समस्या थी कि वे अपनी नवीन राष्ट्रीयता को कल्पना के साँचे में ढालकर कविता का रूप कैसे दें। भावना और तन्मयता की कमी नहीं थी, किंतु अब तक कविता-कला का मनोरम रूप प्रकट नहीं हो सका था। काव्य के विकास की यह अवस्था साहित्य के विद्यार्थियों के ध्यान देने योग्य है। मनोभावों की पर्याप्त मात्रा और उनके उद्रेक की प्रचुर प्रेरणा होते हुए भी जब कविगण काव्य-कला की उपयुक्त सरणी नहीं प्राप्त कर सकते तब विवश होकर अन्य मार्गों का अवलंबन करते हैं। वे कभी उपदेशात्मक प्रवचन करने लगते कभी नीतिकार या कथा-वाचक बन जाते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के सम्मुख यही प्रश्न उपस्थित था कि वे उस समय के प्रचलित कवित्त या सवैया की प्रणाली से नवीन अभिव्यक्ति कैसे करें। ये

दोनों तो मुक्तक कविता के ही काम के थे। महाकाव्य या खंडकाव्य आदि दोहा-चौपाई के क्रम से लिखना, तत्कालीन कवियों के विषय के बाहर था। अन्य साधनों पर जब इनकी दृष्टि न जा सकी तब हरिश्चंद्र ने नाटक लिखना आरंभ किया जो अधिकांश उपदेशप्रधान हुए। उनके सहकारी साहित्यिकों ने भी निबंध, उपन्यास आदि लिखकर नैतिक और सामाजिक आदर्शों को ही मुख्यतः व्यक्त किया। काव्य की शुद्ध कल्पना-भूमि पर उन कवियों का आगमन कम ही हो सका, वे प्रमुख रूप से बुद्धि-विशिष्ट, आदर्श-प्रधान साहित्य की सृष्टि करते रहे।

गीति-कविता की परंपरा भक्तों की वाणी के क्षीण होते ही टूट चुकी थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समकालीन कवियों को उसी के पुनरुत्थान की आवश्यकता थी किंतु इस कार्य में वे अधिक सफल न हो सके। इन कवियों में कोई विशिष्ट गायक न उत्पन्न हो सका जो अपनी ही साधना से अस्तंगत गीतिकाव्य का प्रकाश हिंदी के काव्यक्षेत्र में पुनर्वार फैलाता। समय की गति भी कुछ ऐसी थी कि शांतिमय गीति-रचना की लघु किंतु रमणीय पूर्णता का चित्र कवियों के हृदय-पटल पर अंकित न हो सका। नव्य उत्थान के इस क्रियाशील युग में बौद्धिक विकास के सामने कल्पना और काव्य की मनोरम आभा यथोचित रूप में झलक न सकी।

हरिश्चंद्र और उनके उपरांत हिंदी के कवियों की प्रवृत्ति अँगरेजी के 'लीरिक' काव्य के अनुकरण में छोटी-छोटी कविताएँ

बनाने और उन्हें पत्रों में प्रकाशित करने की हुई अवश्य। 'लीरिक' अपने यहाँ के गीतिकाव्य का ही दूसरा नाम है। इसको परिपाटी हिंदी के लिये नवीन नहीं क्योंकि भक्तों की वाणी अधिकतर गीत ही है। तथापि हरिश्चंद्र के समय गीति-कविता का प्रचलन कम हो गया था और सामयिक साहित्यिकों में कुछ ऐसी धारणा सी बँध गई थी कि गेय पद केवल भगवद्भजन के लिये ही बन सकते हैं। संगीत की तन्मयता की उन्हें खबर नहीं थी। वे तो केवल सूरदास के तंबूरे और कबीर की खँजड़ी का ही स्मरण किए बैठे थे। इस कारण वे गीत का सम्यक् उपयोग न कर सके, जिसकी उन्हें अपनी साहित्यिक साधना के लिये उत्कट आवश्यकता थी। उन्होंने गीत (लीरिक) की शैली का अनुसरण अवश्य किया परंतु न तो विषय के चयन की दृष्टि से और न तन्मयता की दृष्टि से उनकी रचनाएँ श्रेष्ठ 'लीरिक' कविताओं में गिनी जा सकती हैं। हिंदी के उस काल के कवियों ने ऐसे ही विषयों पर कविता की, जिनसे जन-समाज में जागर्ति तो फैली, पर कविता का विशेष कल्याण न हो सका। काव्य के लिये निबंधों की सी बुद्धिगम्य विचार-प्रणाली की आवश्यकता नहीं होती, भावों को उच्छ्वसित करना आवश्यक होता है। अनेक प्रमाणों को एकत्र कर पद्य का ढाँचा खड़ा करना कविता नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। उस काल की हिंदी कविता में समाज-सुधार और जातीयता के बहिरंग का इतना दृढ़ प्रभाव पड़ चुका था कि उसके

प्रभाव से मुक्त होकर रचना करना कवियों के लिये संभव नहीं था।

अब तक व्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी और कवित्त सवैया आदि छंदों का ही प्रयोग अधिक होता था। परन्तु इस समय के लगभग भाषा के माध्यम में परिवर्तन किया गया, व्रजभाषा के बदले खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। इस समय तक खड़ी बोली हिंदी गद्य की प्रचलित भाषा हो चुकी थी, पर पद्य में अपनी कोमलता और सौंदर्य के कारण व्रज-भाषा ही व्यवहार में लाई जा रही थी। खड़ी बोली के पक्षपातियों का सबसे बड़ा तर्क यही था कि बोलचाल की जो भाषा हो उससे विभिन्न भाषा का प्रयोग कविता में न होना चाहिए। यहाँ हम इस तर्क की उपयुक्तता पर कुछ भी नहीं कहेंगे। पर पढ़ी-लिखी जनता की प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर अधिक हो रही थी, इसमें संदेह नहीं। छंदों में भी अनेकरूपता आने लगी थी। नए नए छंदों का इस काल में अच्छा आविष्कार हुआ। व्याकरण की भी प्रतिष्ठा हो चली थी यद्यपि इसकी पूरी योग्यता कुछ काल अनंतर दिखाई दी। भारतेंदु हरिश्चंद्र के सम-सामयिक कवियों को जो मार्ग प्रशस्त करना था, उसमें व्याकरण के जटिल नियमों को स्थान नहीं दिया जा सकता था। हिंदी के उस आविष्कार-युग में व्याकरण की व्यवस्था तो संभव भी नहीं थी; उसकी खोज अवश्य की गई। उस समय तो कविता को रीति की संकीर्णता से निका-

लना था, उसे खुली हवा में लाकर स्वस्थ करना था, पर सम-यानंतर में जब हिंदी गद्य कुछ उन्नत हुआ, तब भाषा-संस्कार आदि की ओर भी ध्यान दिया गया। यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि उस काल की खड़ीबोली बड़ी कर्कशता लेकर आई थी। उसमें काव्योपयुक्त कोमलता कम थी। गीति-रचना के तो वह अयोग्य ही थी।

ऊपर हम कह आए हैं कि कवित्त और सवैया उस काल की मुक्तक काव्य-रचना के काम में आ रहे थे। वे वास्तविक गीति-कविता के अनुकूल न थे। चार और केवल चार चरणों के ये छंद जिन्हें अपने साथियों की आवश्यकता नहीं होती और जो अकेले ही रहना चाहते हैं, नपे-तुले मुक्तक के ही उपयुक्त हो सकते हैं। गीति की अनियंत्रित गति उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती। रेलगाड़ी की पटरी की भाँति छंद की समानांतर रेखाएँ ही मुक्तक के लिये पर्याप्त हैं किंतु गीति-रचना तो उद्यान की लता की भाँति सजीव सृष्टि है। संस्कृत की सप्तशतियाँ, उर्दू के शेर और हिंदी के फुटकल कवित्त या दोहे, जिनमें शाब्दिक या आर्थिक चमत्कार एक अनिवार्य विशेषता है, मुक्तक काव्य के अंतर्गत हैं किंतु गीतों के लिए चमत्कार से कहीं अधिक आवश्यकता एक ही मुख्य भाव को अपनी पूर्णता में उच्छ्‌वसित कर देने की है। मुक्तक की मापरेखा तो दोहे की दो या कवित्त की चार या षट्पद की छः पँक्तियाँ हैं किंतु गीत का ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। उसकी मर्यादा उक्त भावना की ही

मर्यादा है। वह छंदों के वशीभूत नहीं। पाश्चात्य साहित्य के गीत चार छः पंक्तियों से लेकर चार छः सौ या इससे भी अधिक पंक्तियों तक प्रसरित होते चले गए हैं। गीति-कविता और मुक्तक का यह भेद उस समय तक सम्यक् प्रकाश में नहीं आ सका था अतः कविगण भावनामय गीत रचते हुए बहुधा मुक्तकों के घेरे में बँध जाते और ईप्सित पथ से विचलित हो पड़ते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा उनके समकालीन कवि तो क्या उनके परवर्ती कवि भी अधिक समय तक गीत और मुक्तक का स्पष्ट अंतर न समझ सके।

पाठकजी और द्विवेदीजी—स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ीबोली की कविता के इस युग में प्रथम कवि और आचार्य हुए। पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की कविता-पुस्तकों का अनुवाद 'ऊजड़ ग्राम', 'एकांतवासी योगी' और 'श्रांत पथिक' के नाम से किया और कुछ मौलिक रचनाएँ भी कीं। द्विवेदीजी ने मराठी-साहित्य की प्रगति से परिचित होकर हिंदी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'सरस्वती' में छोटी छोटी कविताएँ कीं और अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। यदि पाठकजी में कवित्व द्विवेदीजी से अधिक है तो द्विवेदीजी में भाषा का मार्जन पाठकजी की अपेक्षा अधिक है। उस समय खड़ी बोली का जो अनिश्चित रूप प्रचलित था उसे सुधारकर काव्योपयुक्त बनाने की चेष्टा करने के कारण द्विवेदीजी का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण समझा

जायगा। परंतु मराठी कविता की कर्कशता द्विवेदीजी की रचनाओं में भी देख पड़ी। कुछ काल उपरांत द्विवेदीजी ने 'कुमारसंभव' आदि संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद कविता में किए, जो अपने ढंग के अनुपम हुए। पाठकजी ने व्रजभाषा का पल्ला भी पकड़ा और बड़ी ही मधुर कविता की सृष्टि की। द्विवेदीजी के अनुयायियों में आगे चलकर अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक यशस्वी हैं। पाठकजी को प्रकृति की रम्य क्रीड़ाभूमि काश्मीर में तथा अन्य मनोहर पहाड़ी प्रदेशों में रहने का सुअवसर मिला था, जिसके फल-स्वरूप उनके रसिक हृदय ने प्राकृतिक दृश्यों के साथ आंतरिक अनुराग प्राप्त कर लिया था। इस अनुराग की स्पष्ट झलक उनकी रचनाओं में देख पड़ती है।

उपाध्यायजी और नाथूरामजी—पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय और पंडित नाथूराम शंकर शर्मा हिंदी के उन प्रसिद्ध कवियों में हैं जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर रहकर काव्य-रचना की। अपने प्रारंभिक कविता-काल में उपाध्यायजी व्रजभाषा में लिखा करते थे; पर आगे चलकर उन्होंने पदावली का आश्रय लेकर संस्कृत वृत्तों में 'प्रियप्रवास' की रचना की। 'प्रियप्रवास' में उपाध्यायजी की कवित्व-शक्ति बड़े समारोह के साथ संचालित हुई है और संपूर्ण काव्य कवि की प्रसन्न आत्मा का संयोग पाकर खिल उठा है। आधुनिक खड़ीबोली का यह सर्वप्रथम महाकाव्य अपनी कोटि में अप्र-

तिम और एक ही है। इस ग्रंथ के नायक कृष्ण की कल्पना प्रचलित पद्धति के अनुसार ईश्वर के रूप में नहीं, वरन् एक लोकोत्तर महापुरुष के रूप में की गई है। इससे यह काव्य अधिक नवीन और हृदयग्राही हो गया है। 'प्रियप्रवास' की रचना के उपरांत उपाध्यायजी को काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उपदेशों और व्यंग्यों द्वारा समाज-सुधार करने की धुन सवार हुई। तथापि अंत:करण की अकृत्रिम प्रेरणा से लिखी जाने के कारण उनकी अनेक कृतियाँ सुंदर बन पड़ी हैं। हिंदी के आधुनिक कवियों में उपाध्यायजी अपनी कृति-बहुलता और अनेकमुखी साहित्य-सृष्टि के कारण भिन्न भिन्न पाठकों की रुचि को भिन्न भिन्न प्रकार से आकर्षित कर सके हैं। पंडित नाथूरामजी शर्मा विलक्षण शब्द-निर्माता और कवि थे। आर्यसमाजी होने के कारण उनकी कविताएँ मार्मिक व्यंग्य से चुभती हुई और मीठी चुटकी से चमकती हुई हैं। कुछ में तो उत्तम कोटि के कवित्व की झलक मिलती है। शृंगार-रस के पद्माकरी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर अंत में उन्होंने उन्हें भस्मसात् कर दिया।

मैथिलीशरण गुप्त—बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आधुनिक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध कवि कहे जा सकते हैं। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया है। द्विवे-

दीजी की ही भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है, पर 'प्रियप्रवास' की भाँति वह अतिशय संस्कृत-गर्भित नहीं होती। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित गयाप्रसाद 'सनेही' जी की उर्दू-मिश्रित कविता-शैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। लोकप्रियता की दृष्टि से मैथिलीशरणजी को जितना गौरव प्राप्त हुआ है, उतना आधुनिक काल के किसी ही कवि को प्राप्त हुआ होगा। गुप्तजी की 'भारत-भारती' अब भी देश-प्रेमी नवयुवकों के उपयोग में आ रही है। उसके सैकड़ों पद हिंदी भाषा-भाषी जनता की जिह्वा पर रखे हुए हैं। कितने ही नौसिखुए कवि अब भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं। किन्तु काव्य की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। उस दृष्टि से उनका 'जयद्रथवध' खंड-काव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीररस का अच्छा परिपाक है और बीच बीच में करुणरस के सुंदर छींटे पाकर मन रसमग्न हो जाता है। उनकी अन्य रचनाओं में 'पंचवटी' सर्वश्रेष्ठ है। उसमें दृश्यों की छटा रमणीय हुई है और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी छवि देख पड़ती है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि वे परवर्ती काल के छायावाद के कवियों की भाँति आध्यात्मिक गीतों की रचना करने में भी प्रवृत्त हुए हैं। परंतु गीत की तन्मयता और तीव्र भावोन्मेष उन पद्यों में उतना

नहीं जितना मुक्तक की सी साज-सज्जा है। उनके गीतों के बंद एक दूसरे के पूरक से हैं वे एकप्राण नहीं हैं। बिना एक-प्राणता के श्रेष्ठ गीति-रचना कठिन ही है। अब तक की कृतियों में गुप्तजी ने अपनी कविता-कला और तत्संबंधी बौद्धिक चमत्कार का प्रदर्शन अच्छी मात्रा में किया है। काव्योपयोगी वातावरण और रूप-रंग प्रदर्शित करने की उनकी क्षमता उच्च कोटि की है किंतु गीत-काव्य की कल्पना-भूमि में निष्ठ होकर वे रमते नहीं। अतः वास्तविक गीत की अपेक्षा वे शोभाशाली मुक्तक की ही अधिक सृष्टि कर रहे हैं। गुप्तजी ने 'साकेत' नामक एक महाकाव्य भी लिखा है। यह पुस्तकाकार प्रकाशित होकर अब हमारे सामने आ गया है। इसमें लक्ष्मण की पत्नी उर्मिला का चित्र बड़ा ही करुण और मर्मस्पर्शी खींचा गया है। महाकाव्य की दृष्टि से इसको यह प्रधान त्रुटि है कि इसमें गंभीर भावोद्वेलन के स्थान पर हलका नाटकीय प्रभाव या चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। साकेत में ही घटनाएँ केंद्रित करने की चेष्टा करते हुए स्थान और काल संकलन की भी गड़बड़ी पड़ी है तथा कुछ अप्रासंगिक प्रसंग भी सन्निविष्ट किए गए हैं। तथापि गुप्तजी की यह कृति निश्चय ही उन्हें हिंदी के आधुनिक कवियों में उच्च आसन प्रदान करेगी। उन्होंने बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघ-नाद-वध', 'वीरांगना', 'विरहिणी व्रजांगना' तथा नवीनचंद्र सेन के 'पलासीर युद्ध' का भी हिंदी में अनुवाद किया है।

इन अनुवादों में गुप्तजी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ी बोली की शब्द-शक्ति भी प्रकट होती है।

'सनेही' और 'दीन'—पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और लाला भगवानदीन उर्दू मिली भाषा की कविता के अनुयायी हुए। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव को लेकर आए हैं और दोनों की रचनाएँ ओजस्विनी हुई हैं। अंतर इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नृपतियों की प्रशस्तियाँ लिखने में लगे। राष्ट्रीय कवियों को साहित्य की क्लिष्ट भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और दीनजी दोनों ने ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। राष्ट्रीय कवियों को पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब वे राष्ट्रीय आंदोलनों को निकट से देखें और उसकी सूक्ष्म चैतन्य छाया उनकी आत्मा पर पड़े। चंद, भूषण आदि वीर कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी और पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का कार्य इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा। सनेहीजी की साहित्यिक कृतियाँ ओजस्विनी, करुण तथा शाब्दिक सौष्ठव से संपन्न हुई हैं। यही उनकी अपनी विशेषता है।

रामचंद्र शुक्ल—पंडित रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्य-लेखक और समालोचक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। बुद्ध-चरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, संगृहीत नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनका प्रकृति-प्रेम भी विशेष उल्लेख-योग्य है। वन्य प्रकृति के उजाड़ और सूने स्वरूप के प्रति भी उनका जितना अनुराग है उतना ही बगीचों में खिले हुए गुलाब के फूल के प्रति। बुद्ध-चरित में बुद्ध के निष्क्रमण के समय सोती हुई राजमहिषी और उसकी सहेलियों की नागरिक छवि जितनी सुंदर अंकित की गई है उतनी ही खेतों, खलिहानों या नदी-पर्वतों के आसपास बिचरती हुई कृषक और कृषक-पत्नियों की छवि। प्राकृतिक वर्णनों में शुक्लजी का सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभासित होता है। 'हृदय के मधुर भार' शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न रूप दिखाया गया है।

रामनरेश त्रिपाठी—पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी में 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' नामक तीन खंड-काव्यों की रचना की है। उनकी कविता में छंदों का सौंदर्य दर्शनीय है। यद्यपि उनमें भावों की प्रचुरता नहीं है, पर एक ही वस्तु को सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। दृश्यों और परिस्थितियों की अच्छी योजना करके वे

प्रसंग को आकर्षक बनाते हैं और भाषणकला की विधि का प्रयोग करते हैं जिससे पुनरुक्तियाँ खटकती नहीं। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में भरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, यद्यपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक भी हो गई है। 'विधवा का दर्पण' शीर्षक उनकी एक मुक्तक रचना हिंदी में उनकी अब तक की कृतियों में उच्च स्थान की अधिकारिणी है। त्रिपाठीजी हिंदी के क्रियावादी कवि हैं।

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि—ब्रजभाषा में कविता करनेवालों में हरिश्चंद्र के उपरांत प्रेमघन और श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके पश्चात् स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण शर्मा कविरत्न और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का नाम प्रसिद्ध है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कानपुर के वकील थे। वे ब्रजभाषा की अच्छी कविता करते थे। उनके 'चंद्रकला-भानुकुमार' नाटक के कुछ सवैए ऐसे उत्कृष्ट हुए हैं जो देव और मतिराम का समता करते हैं। उन्होंने कालिदास के अमर काव्य 'मेघदूत' का ब्रजभाषा में 'धाराधरधावन' नाम से अनुवाद भी किया है। वे खड़ी बोली में भी कविता करते थे। उनकी स्फुट कविताओं में 'शकुन्तला-जन्म' नामक कविता सुंदर हुई है।

पंडित सत्यनारायण कविरत्न ब्रजमंडल (आगरे) के रहनेवाले, ब्रजपति के स्वाभाविक भक्त, बड़े ही रसिक और सरल

स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में व्रज की माधुरी लबालब भरी है। उनकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'हृदय-तरंग' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने भवभूति के 'मालती-माधव' नाटक का सरस और मधुर अनुवाद किया है। देश के कुछ महापुरुषों—जैसे महात्मा गाँधी, कवींद्र रवींद्र, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक आदि—की जो प्रशस्तियाँ सत्यनारायणजी ने लिखी हैं वे भी बड़े मार्के की हैं। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक दिखानेवाले थोड़े कवियों में उनकी गणना होगी।

रत्नाकरजी—व्रजभाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका 'हरिश्चंद्र काव्य' सुंदर हुआ है, पर 'गंगावतरण' नामक प्रबंध रचना में इनकी काव्य-प्रतिभा और भी चमक उठी है। इस काव्य में रत्नाकरजी ने गंगा का पृथ्वीतल पर आगमन और प्रवाह पौराणिक चमत्कार के साथ अंकित किया है। परंतु रत्नाकरजी को पूर्ण सफलता मुक्तक रचना में मिली है। उनकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता कविता-कला का प्रदर्शन है और कवित्तों में उन्हें इसका अधिक सुयोग प्राप्त हुआ है। भावोद्रेक के विचार से रत्नाकरजी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'उद्धवशतक' है जिसमें एक एक छंद संगीत की सुषमा से समन्वित और अंतर के रस में सना हुआ है। रत्नाकरजी की भाषा-शैली पद्माकरी कही जा सकती है और अनुभावों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों का उपयोग

किया है। ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों में वियोगी हरिजी को भी अच्छी प्रसिद्धि है। ये भक्त हैं, और वीर-रस की कविता भी करते हैं। यद्यपि यह युग ब्रजभाषा का नहीं है तथापि उपर्युक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और पठित जनता में उनका प्रचार भी हुआ है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में रत्नाकरजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

अन्य कविगण—इस युग के अन्य कवियों में पंडित रूपनारायण पांडेय, बाबू सियारामशरण गुप्त, पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा, पंडित कामताप्रसाद गुरु, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय, ठाकुर गोपाल-शरणसिंह आदि भी उल्लेखयोग्य हैं। रूपनारायणजी की भाषा चलती हुई खड़ी बोली है। उनकी कविता में पूरी रसा-त्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन-विहं-गम' शीर्षक रचना अच्छी है। सियारामशरणजी ने सामाजिक कुरीतियों पर इतनी तीव्र व्यंग्यमयी और करुण कविता की है कि चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाज-नीति को काव्योपयोगी बनाने की विधि हिंदी में सियाराम-शरणजी को अच्छी आती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता ध्यान देने योग्य है। वीररस की फड़कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा को कुछ लोग आधुनिक भूषण कहते हैं। वास्तव में उनकी अनेक रचनाएँ अपूर्व ओजस्विनी हुई हैं। पंडित गिरिधर शर्मा "नवरत्न" संस्कृत के विद्वान् और

हिंदी के अच्छे कवि हैं। इन्हें गुजराती और बँगला की कविता-पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी सफलता मिली है। गुरु-जी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रचा हुई है। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने प्रोत्साहन देकर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की रामचरित-चिंतामणि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पांडेयजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह भी 'सर-स्वती' और द्विवेदीजी की छाया में ही बढ़कर कवि हुए हैं। 'माधवी' में उनकी कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। इधर कुछ दिनों से उनकी 'परदे में' आदि कुछ अनोखी रहस्यात्मक कविताएँ दिखाई दे रही हैं जिनमें सामाजिक समस्याओं की छाया एक विचित्र ढंग से पड़ती जान पड़ती है। इस प्रकार की कविता नई है और ठाकुर साहब यदि ऐसी अधिक रचना करके इसकी प्रच्छन्नता पर प्रकाश नहीं डालते तो यह दुरूह ही रह जायगी। इन कवियों के अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कवि-ताएँ भी महत्त्व रखती हैं। पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की काव्य-रचना, उर्दू शेरों की भाँति अधिकांश ऊहात्मक होती और मुक्तक की कोटि में आती है। अपनी राजनीतिक विह्वलता को रहस्यात्मक शैली से व्यक्त कर उन्होंने एक नई चाल का राजनीतिक कविता का सूत्रपात भी किया है। इसका रहस्य

आधुनिक राजनीति में देखा जा सकता है। चतुर्वेदीजी से अधिक मार्मिक और रसमय कविता पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन ने की है, जिन्हें लोग 'भारतीय आत्मा' का अनुयायी समझते हैं। इनकी कविता की शब्दावली में कुछ एकदेशीय ठेठ शब्दों का प्रयोग तो 'भारतीय आत्मा' की शैली से मिलता-जुलता है परन्तु इसके अतिरिक्त बालकृष्णजी एक स्वतंत्र और भावना-संवलित कवि हैं।

स्त्री कवि—आधुनिक स्त्री कवियों में श्रीमती तोरनदेवी शुक्ल की रचनाएँ विशेष सरल और छोटे छोटे पद्यों के रूप में हैं। इनमें उत्साह और कर्तव्य विषयक उद्गार व्याख्यान की सी ओजस्विनी भाषा में प्रकट किए गए हैं। मार्मिक कविता कम है। बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनकी सामूहिक प्रतिक्रिया का भाव ही कविता में अंकित करना पर्याप्त नहीं होता, उसमें व्यक्ति के अंतर की हलचल भी दिखाई देनी चाहिए। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने इस मर्म को पहचाना है अतः उनकी रचना में अधिक रस है। पारिवारिक जीवन के स्त्रीसुलभ पक्ष की आंतरिक अनुभूति सरल भाषा में उन्होंने व्यक्त की है। वीरोत्साह के पद्यों में उनकी 'झाँसी की रानी' ख्याति प्राप्त कर चुकी है। आशा और स्त्रियोचित प्रसन्नता का वातावरण इनकी कविताओं में देख पड़ता है। श्रीमती महादेवीजी वर्मा श्रेष्ठ स्त्री कवि हैं। निराशा और करुणा का स्रोत इनकी कृतियों में अजस्र रूप से प्रवाहित है। इनकी

कल्पना-शक्ति हिंदी की आधुनिक स्त्री कवियों में अद्वितीय है, अतः ये रूपों की विविधता अच्छी मात्रा में अंकित कर सकी हैं। आरंभ से लेकर अब तक इनका काव्य-रचना का अच्छा विकास होता आया है। अन्य देवियों की काव्य-कृतियाँ भी ध्यान देने के योग्य हैं।

छायावाद—हिंदी की काव्य-धारा का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं और पाश्चात्य देशों के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। इँगलैंड के अनेक रहस्यवादी कवि सांप्रदायिक कवियों की श्रेणी में आवेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोकसामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचार-परंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता सांप्रदायिक आधार को ग्रहण किए बिना भी लिखी जा सकती है। इँगलैंड के ब्लेक, फारस के उमर-खैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह ठीक है कि उनकी काव्यगत अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियों से विभिन्न हैं; पर वे सत्य हैं, अतः उनमें रसात्मकता पूरी मात्रा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत विच्छेद और अनंत संयोग की जो

झलक दिखलाई है उसका उन्होंने स्वतः अनुभव किया था, केवल सूफी संप्रदाय की किंवदंती के आधार पर वह अवलंबित नहीं है। हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में थोड़ी बहुत सांप्रदायिकता अवश्य घुस आई है। इस आधुनिक रहस्यवाद के उत्पादन में हिंदी कवियों को श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली है। छायावाद की कविता में सबसे खटकनेवाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। इस समय बहुत सी ऐसी रचनाएँ हो रही हैं जो इन दोषों से मुक्त नहीं कही जा सकतीं। पर इन सब बातों से निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ सत्य और नित्य होगा वह स्थायी रूप ग्रहण कर लेगा, अन्य सब बातें अपने आप ही नष्ट हो जायँगी। समय के प्रभाव और विद्या के प्रसार से जब यह प्रवाह संयत प्रणालियों में चलने लगेगा तब हिंदी कविता का नया विकास बड़ा ही मनोरम होगा।

छायावाद के कवि—यहाँ पर यह कह देना भी बहुत आवश्यक जान पड़ता है कि हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सबके सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी। अँगरेजी लीरिक कविता के ढंग पर रचना करने-

वाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में प्रेम और मनुष्य-जीवन-संबंधी रहस्य पाया जाता है। अँगरेजी कविता की पालिश भी उनमें कम नहीं है। प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है और इनकी कविता की भाषा संस्कृतप्रधान होती है। भारतीय अद्वैतवाद को लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाले कवियों में पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी मुख्य हैं। उन्होंने तथा पंडित सुमित्रानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रश्रय लिया और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है। सामूहिक दृष्टि से देखते हुए छायावादियों में श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके भावों की उड़ान बहुत ऊँची है। उनकी भाषा संस्कृत-बहुल होती है, परंतु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में खड़ी बोली बहुत कुछ कोमल होकर आई है। पंडित मोहनलाल महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ को काव्य-गुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रवींद्र की कविता की थोड़ी बहुत नकल सबने की है।

हिंदी कविता का भविष्य—अब तक की कविता का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकमुखी प्रगति इस युग में हो रही है,

और साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अंतर्दृष्टि-संपन्न कवियों का अभ्युदय भी हो चुका है। यह युग हिंदी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का ग्रहण इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्य-रचना करना विशेष कठिन कार्य है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्य-क्षेत्र से अलग काम करते हैं। साहित्य अब तक जीवन की गहनता के बाहर का दिखलाऊ नंदन-निकुंज बना हुआ था इसलिये सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते थे। परंतु अब वह अवस्था बदल रही है। रूस और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रबल क्रांतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, तमाशा देखनेवालों के अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का वैसा ही युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस सर्वतोव्याप्त मंथन के प्रभाव से अनेकानेक अमूल्य रत्न प्रकट होंगे जिनसे हिंदी का साहित्य-जगत् विभूतिमान बनेगा और अखिल भारतीय जन-समाज को श्रेयोमार्ग प्राप्त होगा।

(६) आधुनिक काल—गद्य-प्रवाह

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है खड़ी बोली में गद्य का विकास। इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनता होती थी। न ये उनकी अरबी-फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान-प्रदान का मार्ग निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। प्रारंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर

इसका रूप कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले शुद्ध अशुद्ध बोलनेवालों से सही गलत बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तौ ह्यशुद्धो गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े-लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने ओजवेक का उजबक, कुतका का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे, एवं ये लोग बेरहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुंदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी और बाबू इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू हिंदी कहलाती थी, पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस तरह संस्कृत वाक् के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ वे फैलते गए, इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि इसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित

शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी के ही अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है, (२) उर्दू जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोल-चाल की भाषा है और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका बहुत से लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं।

भ्रमवश हिंदी में खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता लल्लूजी लाल माने जाते हैं। यह भ्रम उन अँगरेजों के कारण फैला है जो अपने आने के पहले गद्य का अस्तित्व हिंदी में स्वीकार ही नहीं करते। परंतु यह बात असत्य है! अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य-लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्य-लेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार १६८० में जटमल ने "गोराबादल की कथा" भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है। लल्लूजी लाल हिंदवी को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का

मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद 'सुखसागर' वर्त्तमान है। इसके अनंतर इंशाउल्लाखाँ, लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। लल्लूजी लाल के 'प्रेम-सागर' से सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। 'प्रेमसागर' में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलायकर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। सारांश यह कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लू-जी लाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी-साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

उपर्युक्त चार लेखकों ने हिंदी की पहले पहल प्रतिष्ठा की और उसमें ग्रंथ-रचना की चेष्टा की। इनमें मुंशी सदासुख

और सदल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इनमें सदासुख को अधिक सम्मान मिलना चाहिए, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इन्होंने कुछ अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई क्रिश्चियन मत का प्रचार करनेवाली धर्मसंस्थाओं अथवा मिशनों ने हिंदी में अपने कुछ धर्म-ग्रंथों, विशेषकर बाइबिल, का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह देश के विस्तृत भू-भाग में फैली हुई खड़ी बोली की सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। शासक अँगरेजों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर धर्म-प्रचारक मिशनरी यह भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहाँ के जन-समाज की भाषा कदापि नहीं; इसी लिये बाइबिल का अनुवाद शुद्ध हिंदी में हुआ था। उर्दूपन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप सदासुख और लल्लूजी लाल की ही भाँति है, पर विदेशीय रचना-शैली के कारण थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य देख पड़ता है। लल्लूजी लाल की भाषा में व्रज की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद-ग्रंथों में उसका बहिष्कार कर मानों खड़ी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व सूचना सी दी गई है। जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, जिससे पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखानों के फैल जाने पर हिंदी की पुस्तकें शीघ्रता से बढ़ चलीं। इसी समय सरकारी अँगरेजी स्कूल भी खुले और

उनमें हिंदी उर्दू का झगड़ा खड़ा किया गया। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि उर्दू को छोड़कर दूसरी भाषा संयुक्त प्रांत में है ही नहीं। कचहरियों में उर्दू का प्रयोग होता है, मदरसों में भी होना चाहिए। परंतु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सका। देवनागरी लिपि की सरलता और उसका देश-व्यापी प्रचार अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के विचार से उर्दू की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता भी आँखों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ किया जा सकता है। अँगरेज समझकर भी नहीं समझना चाहते थे। इसी समय युक्तप्रांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पक्षपाती काशी के राजा शिवप्रसाद नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकों में अच्छी हिंदी मिलती है, पर अधिकांश में उर्दू-प्रधान भाषा ही उन्होंने लिखी। ऐसा उन्होंने समय और नीति को देखते हुए किया।

इनकी रची हुई पुस्तकों की नामावली यह है—वर्णमाला, बालबोध, विद्यांकुर, वामामनरंजन, हिंदी व्याकरण, भूगोल हस्तामलक, छोटा हस्तामलक भूगोल, इतिहास-तिमिर-नाशक, गुटका, मानवधर्मसार, सैंडफोर्ड ऐंड मारटिन, सिखों

का उदय और अस्त, स्वयंबोध उर्दू, अँगरेजी अक्षरों के सीखने का उपाय, राजा भोज का सपना और वीरसिंह का वृत्तांत। इन ग्रंथों में से कई संग्रह मात्र हैं और अधिकतर राजा साहब के ही बनाए हैं। राजा साहब की भाषा वर्त्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल वह साधारण बोल-चाल की ओर अधिक झुकती है और उसमें उर्दू शब्दों का भी कुछ आधिक्य है। इन्होंने कुछ छंद भी बनाए हैं, पर विशेषतया गद्य ही लिखा है। ये जैनधर्मावलंबी थे। इनका जन्म संवत् १८८० में और स्वर्गवास १९५२ में हुआ।

इसी समय के लगभग हिंदी में संस्कृत के शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह हुए। ये आगरा के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल संवत् १९१६ के इधर उधर है। ये संवत् १९१३ में डेपुटी कलेक्टर नियत हुए और १९४६ में इन्हें पेंशन मिली। संवत् १९२७ में सरकार से इन्हें राजा की पदवी राजभक्ति के कारण मिली। इनका जन्म संवत् १८८३ में हुआ और १९५३ में इनका स्वर्गवास हुआ। राजा साहब ने पहले पहल खड़ी बोली में कालिदास-कृत 'शकुंतला नाटक' का अनुवाद गद्य में करके संवत् १९१९ में प्रकाशित किया। इस पुस्तक का हिंदी-रसिकों में बहुत बड़ा सम्मान हुआ। संवत् १९३२ में विलायत के प्रसिद्ध हिंदी-प्रेमी फ्रेडरिक पिनकाट महाशय ने इसे इँगलिस्तान में छपवाया। इस पुस्तक को इँगलैंड में

यहाँ तक आदर मिला कि यह इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा-पुस्तकों में सम्मिलित की गई। संवत् १९३४ में राजा साहब ने रघुवंश का अनुवाद गद्य में मूल श्लोकों के साथ प्रकाशित किया। यह एक बहुत बड़ी पुस्तक है। संवत् १९३८ में इन महाशय ने प्रसिद्ध मेघदूत के पूर्वार्द्ध का पद्यानुवाद छपवाया और संवत् १९४० में उसके उत्तरार्द्ध का भी अनुवाद प्रकाशित करके ग्रंथ पूर्ण कर दिया। यह ग्रंथ चौपाई, दोहा, सोरठा, शिखरिणी, सवैया, छप्पै, कुंडलिया और घनाक्षरी छंदों में बनाया गया है, जिनमें सवैया और घनाक्षरी प्राय: अधिक हैं। इन्होंने दोहा, सोरठा और चौपाइयों में तुलसीदास की भाषा रखी है और शेष छंदों में व्रजभाषा। इनके गद्य में भी दो-चार स्थानों पर व्रजभाषा मिल गई है, परंतु उसकी मात्रा बहुत ही कम है। इनकी भाषा मधुर एवं निर्दोष है, वर्त्तमान हिंदी-भाषा का प्रचार जब तक भारतवर्ष में रहेगा तब तक विद्वन्मंडली में राजा साहब का नाम बड़े आदर के साथ लिया जायगा।

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन—भारतेंदु हरिश्चंद्र के कार्यक्षेत्र में आते ही हिंदी में समुन्नति का युग आया। अब तक तो खड़ी बोली गद्य का विकास होता रहा और पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं, पर अब साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया

गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरांत बँगला के नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटकों की रचना की। कविता में देश-प्रेम के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। 'हरिश्चंद्र-मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र-पत्रिका' भारतेंदुजी के पत्र थे। छोटे छोटे निबंध भी लिखे जाने लगे। उनके लिखनेवालों में हरिश्चंद्र के अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि थे।

भट्टजी का जन्म संवत् १६०१ में प्रयाग में हुआ था। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा के एक परम प्रवीण लेखक हुए। संवत् १६३४ में प्रयाग से हिंदी-प्रदीप नामक एक सुंदर मासिक पत्र प्रायः ३२ वर्ष तक निकलता रहा। भट्टजी उसके सदैव संपादक रहे। इनकी गद्य-लेखन-पटुता एवं गंभीरता सर्वतोभावेन सराहनीय है। कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह नाटक, सौ अजान का एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि इनके चमत्कारिक लेख हैं। पद्मावती, शर्मिष्ठा और चंद्रसेन नामक उत्तम नाटक-ग्रंथ भी भट्टजी ने रचे हैं। पंडित प्रतापनारायण मिश्र हास्यरस-मिश्रित निबंध और कविताएँ लिखने में अग्रणी हुए। उनका 'ब्राह्मण' पत्र बड़ा तेजस्वी निकला था। मिश्रजी हिंदी के बड़े चटकीले लेखक हो गए हैं। नाटककारों में श्रीनिवास-दास और राधाकृष्णदास का नाम उल्लेख योग्य है। 'परीक्षा-

गुरु' नामक एक अच्छा उपन्यास भी उस समय लिखा गया। आर्यसमाज के कार्य-कर्त्ताओं में स्वामी दयानंद के उपरांत सबसे प्रसिद्ध पंडित भीमसेन शर्मा हुए, जिन्होंने आर्यसमाज का अच्छा साहित्य तैयार किया। पंडित अंबिकादत्त व्यास भी उस काल के मौलिक लेखकों में से थे। अखबारनवीसों में बाबू बालमुकुंद गुप्त सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

गुप्तजी का जन्म संवत् १९२२ में रोहतक जिले में हुआ था। इनको हिंदी-लेखन से सदैव बड़ी रुचि थी और इन्होंने पत्रों के संपादन से ही अपनी जीविका भी चलाई। आपने सात वर्ष बंगवासी का संपादन किया और फिर भारतमित्र के आप जीवन पर्यंत संपादक रहे। आपने रत्नावली नाटिका, हरिदास, शिवशंभु का चिट्ठा, स्फुट कविता, खेलौना आदि पुस्तकें भी रचीं। इनकी गद्य और पद्य रचनाओं में मजाक की मात्रा खूब रहती थी और वे बड़ी मनोरंजक होती थीं। होली के संबंध में ये टेसू आदि खूब मार्के के बनाते थे। इनका शिवशंभु का चिट्ठा एक बड़ा ही लोकप्रिय ग्रंथ है। इनका स्वर्गवास संवत् १९६४ में हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करनेवाले हिंदी के ये उन्नायक बड़े ही शुभ अवसर पर उदय हुए थे। इनकी वाणी में हिंदी के बाल्यकाल की झलक है, पर यौवना-गम की सूचना भी मिलती है। देश-प्रेम और जाति-प्रेम की

भावनाओं को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने के कारण इन सबकी रचनाएँ हिंदी में अपने ढंग की अनोखी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना-शैली में भारतीय शैली और पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय शैली के अंकों और गर्भांकों तथा विष्कंभक आदि को बदलकर बँगला के ढंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी चली, पर संस्कृत के सूत्रधार, नटी, प्रस्तावना आदि ज्यों के त्यों बने रहे। चरित्रों का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गीकरणों का अनुसरण किया, पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उनके अनेक नाटक अनुवादित नाटक ही हैं और उनके मौलिक अधिकांश नाटकों में भी कथानक का निर्माण उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक-निर्माण की शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। 'सत्य हरिश्चंद्र' में सत्य का उच्च आदर्श दिखाया गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की पवित्र धारा बही है। भारतदुर्दशा में स्वदेशानुराग चमक उठा है। भारतेंदु की परिमार्जित गद्य-शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देख पड़ता है। हाँ, विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा सरल अथवा जटिल हो गई है। लाला श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेम-मोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर' आदि नाटक तथा बाबू राधा-कृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रंगशाला के उपयुक्त कम हैं। प्रेमघनजी का

'भारतसौभाग्य' नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चंद्रकला भानुकुमार' नाटक गद्य-काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

नागरी-प्रचारिणी सभा और सरस्वती—हिंदी-साहित्य का यह विकास बड़ा ही आशाप्रद और उत्साह-वर्द्धक था। थोड़े समय की यह साहित्यिक प्रगति उस काल के मनोयोग और कृतिशीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपरांत साहित्य के सभी अंगों की बड़ी सुंदर उन्नति हो चली और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का अभ्युदय हुआ।

१९ वीं शताब्दि के अंतिम दशाब्द में साहित्य के सौभाग्य से दो ऐसी बातें हुईं जिनसे हिंदी-साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँची। इनमें से प्रथम है काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना और द्वितीय है प्रयाग से 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन।

संवत् १९५० में काशी के उत्साही साहित्यिकों ने, जिनमें रायबहादुर श्यामसुंदरदास प्रमुख हैं, नागरी-प्रचारिणी सभा को जन्म दिया। सभा का उद्देश्य नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा का प्रचार, प्रसार तथा उन्नति करना था। सभा अपने सदुद्देश में पूर्ण सफल हुई और उसने हिंदी भाषा और साहित्य की जो सेवा की उस पर किसी भी संस्था को गौरव हो सकता है। सभा ने संयुक्त प्रांत के न्यायालयों में हिंदी को स्थान

दिलाया, हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करके उन्हें प्रकाशित कराया, पारितोषिक देकर उच्च कोटि के साहित्य-प्रकाशन को प्रोत्साहन प्रदान किया, हिंदी में विज्ञान-संबंधी शब्दों की रचना करके "हिंदी वैज्ञानिक कोश" निर्माण कराया और "हिंदी-शब्दसागर" के सदृश बृहत् और महत्वपूर्ण शब्द-कोश संपादित कर प्रकाशित किया। इस प्रकार हिंदी-साहित्य-क्षेत्र के निर्माण का बहुत कुछ प्रारंभिक कार्य इसी सभा के द्वारा हुआ है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के स्तंभ राय बहादुर श्यामसुंदरदास हैं। उनमें संगठन करने और संस्था का सुचारु रूप से संचालन करने की अपूर्व क्षमता है। वे लोगों से काम लेना खूब जानते हैं। अतः नागरी-प्रचारिणी सभा की सफलता का प्रायः अधिकांश श्रेय बाबू साहब ही को प्राप्त है। इस हेतु हिंदी-जगत् बाबू साहब का ऋणी और कृतज्ञ रहेगा। नागरी-प्रचारिणी सभा के विशाल कार्य-क्षेत्र के अतिरिक्त बाबू श्यामसुंदरदास ने ग्रंथ-रचना के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण और युग-प्रवर्तक कार्य किया है और हिंदी के अनेक रिक्त अंगों की पूर्ति की है। कालेजों की उच्च कक्षाओं के उपयुक्त ग्रंथों के नितांत अभाव का बाबू साहब को उस समय अनुभव हुआ जब वे पहले पहल काशी-विश्व-विद्यालय में हिंदी-विभाग की स्थापना करने और हिंदी-शिक्षा का कार्यक्रम बनाने के लिये पूज्य मालवीयजी द्वारा बुलाए गए। सर्वप्रथम बाबू साहब ने ही समझा कि प्रचलित वाहवाही

समालोचनाओं से काम न चलेगा, इसलिये उन्होंने 'साहित्यालोचन' लिखकर आलोचना-संबंधी गंभीर सिद्धांतों को अच्छी तरह समझाया। 'साहित्यालोचन' में पश्चिम और पूर्व के साहित्य-तत्त्व का मार्मिक और तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इन्हीं सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप दिखलाते हुए बाबू साहब ने हिंदी कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे जिनमें 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' और 'तुलसीदास की जीवनी' मुख्य हैं। साहित्यिक आलोचना के उन्हीं सिद्धांतों को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' नाम का एक आदरणीय ग्रंथ लिखा जो डाक्टर ग्रियर्सन जैसे भाषा-शास्त्रियों द्वारा प्रशंसित और आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा पुरस्कृत हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा के क्षेत्र में भी आपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान की नींव डाली है जिसका निदर्शन आपका 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रंथ है। इस प्रकार उच्च श्रेणी के पाठकों और विद्यार्थियों के उपयुक्त ग्रंथ-रचना का प्राथमिक कार्य आपने ही किया और अब तक आप इस क्षेत्र के एक प्रमुख व्यक्ति हैं। प्रसन्नता की बात है कि आपकी दिखाई दिशा में काम करनेवाले अनेक विद्वान् इस समय हिंदी में वर्तमान हैं जिन्हें आप अपनी रचनाओं से तथा व्यक्तिगत रीति से भी प्रेरणा करते रहते हैं। काशी-विश्वविद्यालय हिंदी-शिक्षा का प्रधान केंद्र हो रहा है और वहाँ से शिक्षा-प्राप्त अनेक नवयुवक हिंदी के क्षेत्र में गौरवपूर्ण कार्य

कर रहे हैं। इसका अधिकांश श्रेय बाबू साहब को ही प्राप्त है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्य पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के द्वारा भाषा-संस्कार का जैसा युग-परिवर्तनकारी उद्योग किया, वैसा ही उद्योग बाबू साहब ने साहित्य-संस्कार का किया है और ये ही दोनों महानुभाव वर्तमान हिंदी-साहित्य की उज्ज्वल तथा श्रेयःकारिणी विभूतियाँ हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ 'भारत-कला-भवन' खोलकर भारत की प्राचीन कला-सामग्री की रक्षा का भी स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिसका श्रेय राय कृष्णदास को है। सभा 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' नाम की एक पुरातन खोज-विषयक त्रैमासिक पत्रिका भी निकालती है, जिसका विद्वन्मंडली में समुचित सम्मान है।

जिस समय प्रयाग की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का जन्म हुआ उस समय हिंदी में उच्च कोटि की विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रायः सर्वथा अभाव था। संपादक-प्रवर पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादकत्व में 'सरस्वती' ने हिंदी-साहित्य की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला। उस समय खड़ी बोली हिंदी-गद्य की सर्वमान्य रूप से और पद्य की आंशिक रूप से भाषा बन चुकी थी, परंतु अभी तक उसके संस्कार का प्रयत्न नहीं प्रारंभ हुआ था। द्विवेदीजी के समान व्याकरणविद् और प्रामाणिक विद्वान् के हाथों में जाकर 'सरस्वती' ने भाषा-संस्कार का महान् कार्य संपादन

किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्री द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को हिंदी-पद्य में प्रतिष्ठित करने में कितना अधिक कार्य किया है। परंतु हिंदी-गद्य की भाषा को भी परिमार्जित करने का गौरवमय श्रेय भी श्री द्विवेदीजी को ही है। उन्होंने भाषा को काट-छाँटकर सुसंस्कृत बनाया, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा की, सैकड़ों नवीन लेखकों को प्रोत्साहन दिया और पाश्चात्य सभ्यता के प्रेमी सैकड़ों नवयुवकों को अँगरेजी की ओर से हटाकर हिंदी की ओर आकर्षित किया। हिंदी-साहित्य के अनेकों वर्त्तमान सुप्रसिद्ध लेखक और कवि 'सरस्वती' की ही गोद में पलकर बड़े हुए। उन्होंने द्विवेदीजी से ही साहित्य की प्रथम दीक्षा ग्रहण की थी। द्विवेदीजी की लेखन-शैली मध्य श्रेणी की है। उसमें न तो संस्कृत शब्दों का बाहुल्य होता है और न उर्दू शब्दों की प्रचुरता। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित होती है, परंतु उसमें आवश्यकतानुसार उर्दू शब्दों का भी यथोचित समावेश होता है।

इस प्रकार काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना और 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन से हिंदी-गद्य की उन्नति को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। भाषा में प्रौढ़ता आई, वह सामर्थ्यवती हुई और उसमें अनेक सुंदर शैलियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के दो केंद्रों की विभिन्न शैलियाँ हैं, उस प्रकार हिंदी में स्थान-भेद के अनुसार शैली-भेद तो नहीं हुआ, पर कितनी ही व्यक्तिगत

शैलियाँ उत्पन्न हुईं, जो आगे चलकर वर्गबद्ध शैलियाँ बन गईं और इधर-उधर घूम-फिरकर कुछ स्थानों पर जा टिकीं, जिनसे स्थान-भेद का उपक्रम प्रारंभ हो गया। इस समय स्थूल रूप से तीन भिन्न स्थानों में तीन भिन्न शैलियों के रूप स्पष्टतः दीखते हैं। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं। देहली की ओर के लेखक-गण अपनी भाषा में उर्दू फारसी के साधारण शब्दों का स्वतंत्रता-पूर्वक व्यवहार करते हैं। लखनऊ और कानपुर के साहित्यिकों पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, अतः उन्होंने मध्य मार्ग का अवलंबन किया है। उनकी भाषा में संस्कृत शब्द होते हैं परंतु उर्दू शब्दों का भी यथोचित समावेश रहता है। यह शैली अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुई है। इसके अतिरिक्त हास्य-विनोद, बहस-मुबाहसा, व्यंग्य, व्याख्यान, दर्शन, उपन्यास, कहानी आदि विभिन्न विषयों के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ है और हो रहा है। बहुत सी न्यूनताओं के रहते हुए भी इन शैलियों से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि विभिन्न विषयों को यथोचित रूप से प्रकट करने की क्षमता भाषा में उपस्थित है। देश में उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेजी है। आजकल अँगरेजी के उच्च शिक्षा-प्राप्त अनेक विद्वान् हिंदी की ओर झुक रहे हैं, जिसके कारण भाषा पर अँगरेजी रचना-प्रणाली का विशेष प्रभाव, कदाचित् आवश्यकता से

अधिक, पड़ रहा है। न केवल अँगरेजी के सहस्रों शब्द अनुवादित होकर हिंदी के शब्द-भांडार में प्रवेश कर रहे हैं, वरन् अँगरेजी पद-विन्यास तक की छाया हिंदी में दृष्टिगोचर होने लगी है। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का विकास हुआ और हो रहा है। मासिक पत्रिकाओं के निकलने से सामयिक साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि हुई। राजनीति के आंदोलन के फल-स्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग भर रहे हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

समालोचना—भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होने लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिकांश निर्णयात्मक होती थीं। सरस्वती में पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब तक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग

भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के समकालीन समालोचकों में मिश्रबंधुओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास-ग्रंथ, अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण, बड़ी बहुमूल्य वस्तु है। "हिंदी-नवरत्न" में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिश्रबंधुओं का हिंदी-साहित्य पर ऋण है और उसे स्वीकार न करना कृतघ्नता मानी जायगी। इस बात का बिना ध्यान रखे कि सब बातों में क्रमिक विकास होता है, पूर्व कृतियों को तुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विद्यार्थियों, समालोचकों तथा निर्माताओं का अपने अपने मतों को वेदवाक्य मान बैठना नवाविष्कृत तथ्यों की अवहेलना करना तथा भिन्न मत रखनेवालों को हेय समझना साहित्य के भावी विकास और उन्नति के लिये हितकर न सिद्ध होगा।

हिंदी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तकें लिखनेवालों में स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा और पंडित कृष्णविहारी मिश्र के नाम उल्लेख योग्य हैं। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना-शैली का आविष्कार पंडित पद्मसिंह शर्मा ने किया था। वह वस्तुतः एक नई चीज थी। पंडित कृष्णविहारी

प्राचीन शोध-संबंधी लेख मुख्यतया रहते हैं। इस विषय की यह हिंदी में एक ही पत्रिका है और काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका होने पर भी वह उस संस्था के कार्यों की सूचना देने ही की ओर उतना ध्यान नहीं देती और न वाद-विवाद में ही पड़ती है।

ऊपर उन मासिक पत्रिकाओं की चर्चा की गई है जो अब भी वर्तमान हैं और हिंदी के उन्नयन में सहायक हो रही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पत्रिकाएँ भी समय समय पर निकलीं और वर्षों तक चलने के बाद बंद हुईं। उनकी हिंदी-सेवा भी उल्लेख योग्य है। हरिश्चंद्रजी के उद्योग से जो सामयिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं और उनके सम-सामयिक साहित्यिकों ने जिनका संचालन किया उनमें हरिश्चंद्रचंद्रिका, हरिश्चंद्र मेगजीन, आनंदकादंबिनी, हिंदी-प्रदीप, ब्राह्मण आदि प्रख्यात पत्रों का विवरण प्रासंगिक स्थानों पर दिया जा चुका है। इन पत्रों ने हिंदी की विविध रूपों से सेवा की। इनमें सरल मनोरंजक चुट-कुलों से लेकर क्लिष्ट संस्कृतगर्भित वाक्य-समुच्चय व्यवहार में लाए जाते थे और निबंध, कविता, नाटक, यात्रा-विवरण आदि साहित्यिक अंगों का समावेश किया जाता था। रोच-कता, सतर्कता और उत्साह इन पत्रों की विशेषता थी। लग-भग इसी समय श्री राधाचरण गोस्वामीजी का 'भारतेंदु' प्रका-शित हुआ था। इसके कुछ काल उपरांत जब श्रेष्ठ साहित्यिक

पत्रिका सरस्वती अपनी विविध विषय की साज-सज्जा के साथ प्रतिष्ठित हो गई तब कुछ और भी पत्रिकाएँ मुख्यतः उसी के अनुकरण में किंतु उसकी रीति-नीति का विरोध करने के लिये निकलीं। इनमें 'मर्यादा', 'सरस्वती' की साहित्यिक आलोचना और भाषा-संबंधी विचारों से अपना मतभेद प्रकट करती रही। 'प्रभा' किसान और देश की सामान्य जनता का अधिक हित-साधन करने के उद्देश्य से राजनीतिक पत्रिका के रूप में निकली किंतु उसमें कविता की एक नवीन धारा की अवतारणा भी देखी गई। यही धारा कुछ समय के उपरांत छायावाद नाम धारण करके प्रचलित हुई। काशी के तत्कालीन 'इंदु' में भी कविता की कुछ असामान्य किरणें झलकीं। मध्यप्रदेश की 'श्रीशारदा' और विहार की 'लक्ष्मी', जिसके संपादक स्वर्गीय लाला भगवानदीन थे, कुछ दिनों अच्छी चली। हाल में 'त्यागभूमि' नामक एक मासिक पत्रिका अजमेर से निकलकर बंद हो गई। यह अपने सरल रूप और लोकहितैषी उद्देश्यों के कारण प्रसिद्ध थी।

दैनिक अथवा साप्ताहिक पत्रों में भी, जिन्हें समाचार-पत्र कहना ही अधिक संगत है, साहित्यिक सामग्री देने के कारण 'भारतमित्र' सबसे पहले प्रसिद्ध हुआ। बाबू बालमुकुंद गुप्त के समय में इस पत्र में मनोरंजक और तथ्यपूर्ण साहित्यिक टिप्पणियाँ छपती रहीं। भारतमित्र के उपरांत हिंदी के वृत्त-पत्रों में कानपुर का 'प्रताप' अधिक ख्याति-संपन्न हुआ। इसकी

भाषा इसके संपादक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी की तेजस्वी प्रकृति के प्रभाव से शक्तिशाली थी। मध्यप्रदेश का राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र 'कर्मवीर' नवीन साहित्य का पक्षपाती रहा है। गोरखपुर के 'स्वदेश' को कुछ दिनों नवीन लेखकों का अच्छा सहयोग प्राप्त रहा। कलकत्ते का प्रसिद्ध मनोरंजनप्रिय 'मतवाला' अपनी कोटि का एक ही पत्र निकला। प्रयाग से 'भारत' नामक अर्द्ध साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ, जिसके आलोचनात्मक साहित्यिक लेखों से सामयिक साहित्य पर कुछ दिनों तक अच्छा प्रकाश पड़ा था। इसके अतिरिक्त आज, लोकमत, आर्यमित्र, चाँद, हिंदूपंच, पाक्षिक जागरण, वीणा, विश्वमित्र आदि पत्र-पत्रिकाएँ अपने अपने उद्देश की पूर्ति करती हुई हिंदी-साहित्य की भी सेवा कर सकी हैं। बहुत से पत्र और भी हैं जिनका नामोल्लेख स्थानाभाव के कारण नहीं किया जा सकता किंतु जिनसे हिंदी अच्छी मात्रा में उपकृत हुई है। ये सब हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

गद्य-शैली का विकास—यों तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु तारतम्य उस समय से आरंभ हुआ जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशाउल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने अपनी रचनाएँ कीं। उस समय की शैली की अवस्था वही थी जो वस्तुतः आरंभिक काल में होनी चाहिए। जिन लोगों ने वस्तु का आधार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग

गई। इस काल में कथा-कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह आरंभिक काल था। न तो भाषाशैली में बल का संचार हुआ, न उसका कोई संयत रूप स्थिर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लेखकों में भी दो दल स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रतिज्ञा कर ली थी कि उर्दूपन—उर्दू ढंग की वाक्य-रचना एवं शब्द-योजना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय; और दूसरे ने उर्दूपन लेकर शैली को चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शब्दों का रूप ही स्थिर हुआ था और न भाषा का परिमार्जन ही हो सका था। व्याकरण की ओर तो आँख उठाना ही अस्वाभाविक या अनावश्यक ज्ञात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों ने मुहावरों और उर्दूपन का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा गंभीर भले ही रही हो परंतु उसका आकर्षण और चमत्कार अवश्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्रांतीयता स्पष्ट झलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह आरंभिक काल था तो वे सभी अवस्थाएँ रचना-शैली में उपस्थित थीं जो स्वाभाविक रूप में उस समय होनी चाहिए थीं।

इसके उपरांत लगभग पचास वर्षों तक हिंदी का कार्य भारतवर्ष के धर्म-प्रचारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय

की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन ईसाइयों ने उर्दूपन का घोर विरोध किया और सभी रचनाओं में पूर्ण रूप से हिंदीपन का ही निर्वाह किया। न तो शब्द-योजना ही में उर्दूपन दिखाई पड़ता है और न वाक्य-विन्यास ही में। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों ने ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार किया परंतु उर्दू के शब्दों का नहीं। यह स्पष्ट विदित होता है कि इन लोगों ने सचेष्ट होकर, उर्दूपन को दूर रखकर, भाषा का रूप शुद्ध रखा।

इधर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के गद्य-क्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था, पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं। हिंदी-गद्य का रूप कुछ व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भाव-द्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा

तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भाव-द्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरसता से प्रकाशित किए जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है, बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न तो उन्होंने उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न वे उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भाव-व्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का

अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भाव-प्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है, परंतु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परंतु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परंतु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सतर्कता एवं चेष्टा से व्याकरण-संबंधी त्रुटियों का सुधार

हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का अभ्यास हो चुका था, परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की शैलियों का रूप ही निश्चित हुआ था और न भली भाँति उनमें सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। फल-स्वरूप शैली में भी भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की शैली में चरित्र-चित्रण की मननशील और गंभीर योजना इस बात की साक्षी है। क्रमशः जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार भाषा में भी भाव-व्यंजनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जितने प्रकार की शैलियाँ उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि गूढ़ से गूढ़ भावनाओं के प्रकाशन में भाषा समर्थ है।

भाव और भाषा की तादात्म्य-प्राप्ति शैली के उत्कर्ष की परम सीमा है। लेखक इस दिशा में भी पदन्यास कर रहे हैं। राय कृष्णदास की 'साधना' में इसी प्रकार के तादात्म्य का उन्मेष स्थान स्थान पर हुआ है। इनके 'सुधांशु' की अधखिली कहानियाँ उक्त शैली के गोचर रूप प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सफल हुई हैं।

घटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विचित्रता-पूर्ण और व्यावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर भावात्मक तथा उन्मादपूर्ण भाव-व्यंजना का एक रूप-विशेष "प्रसाद" जी की शैली में दिखाई पड़ता है। वाद-विवाद और तार्किक कथन का ओजपूर्ण रूप भी इस काल में विशेषतः प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की शैलियाँ आज देखने में आ रही हैं जिनमें भाषण के गुणों की प्रधानता रहती है। एक ही विषय को बार बार दुहराकर कहना और भाव-भंगी की एक विचित्रतापूर्ण और चमत्कारयुक्त शैली का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। यों तो इने-गिने आलोचनात्मक लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा से इस विषय का अधिक प्रचार बढ़ा और क्रमशः इधर लोगों की प्रवृत्ति भी होने लगी। फलतः आज पंडित रामचंद्र शुक्ल सरीखे गौरव-पूर्ण आलोचना-लेखक उपस्थित हैं। आलोचना का जो सौष्ठवपूर्ण गंभीर विवेचन शुक्लजी ने आरंभ किया है उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह चमत्कार-पूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कनायुक्त शैली दृढ़ होकर एक विशेष रूप स्थिर करेगी।

अभी तक गंभीर तुलनात्मक आलोचना पर कोई ऐसा सुंदर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसे आधार माना जा सके।

इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की शैलियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त हुई हैं।

---

(१०) उपसंहार

सारांश यह है कि क्या कला पक्ष और क्या भाव पक्ष दोनों में अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रही है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का वर्त्तमान रूप बड़ा चमत्कार-पूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्त्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तन-काल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, उमंग है और सबसे बढ़कर बात यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण वर्त्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे सुगम्य, प्रशस्त और सुरम्य बना रहे हैं।

अनुक्रमणिका